हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक]

प्रबन्ध सम्पादक

श्री विद्या भास्कर

मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

हिन्दुस्तानी एकेडेमी



प्रधान सम्पादक

डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी०लिट्०

सहायक सम्पादक

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, एम० ए०, डी०फिल्०



[भाग २२ : अंक ३ तथा ४]

जुलाई-सितम्बर : अक्टूबर-दिसम्बर

१९६१



हिन्दुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

लेख-सूची

सूचना

१. हिंदुस्तानी पत्रिका का प्रकाशन त्रैमासिक रूप में होगा।
२. पत्रिका की एक प्रति का मूल्य २·५० नए पैसे तथा वार्षिक मूल्य १० रुपये होगा। वार्षिक ग्राहक को डाक-व्यय नहीं देना पड़ेगा।
३. लेखों के विषय मुख्यतः भाषा, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्व तथा दर्शन संबंधी होंगे।
४. केवल उच्चस्तर के मौलिक, खोजपूर्ण तथा वाद-मुक्त लेख ही स्वीकृत किए जावेंगे।
५. प्रकाशित लेखों पर एकेडेमी का समस्त मुद्रणाधिकार होगा। उनके अन्यत्र प्रकाशन तथा अनुवाद आदि की स्वीकृति एकेडेमी से लेनी होगी।
६. पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए।

हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक]

प्रबन्ध सम्पादक

श्री विद्या भास्कर

मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

हिन्दुस्तानी एकेडेमी



प्रधान सम्पादक

डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी०लिट्०

सहायक सम्पादक

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, एम० ए०, डी०फिल्०



[भाग २२ : अंक ३ तथा ४]

जुलाई-सितम्बर : अक्टूबर-दिसम्बर

१९६१



वार्षिक
१० रुपए

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

एक प्रति
२.५० नए पैसे

सम्पादक-मंडल

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री
सम्मेलन

'पदमावत' से संबंधित कुछ समस्याएँ और उनके समाधान

डॉ० माताप्रसाद गुप्त

जायसी और उनके 'पदमावत' से संबंधित समस्याएँ अनेक हैं; कदाचित् जितनी उलझनें जायसी के संबंध में रही हैं, हिन्दी के कम ही कवियों के संबंध में रही हैं। उनके ग्रन्थों की एक बड़ी भारी समस्या पाठ की थी, जिसे हल करने का एक प्रयास प्रायः दस वर्ष पूर्व प्रस्तुत लेखक ने किया था। उससे रचना की पाठ-संबंधी गुत्थियाँ कहाँ तक सुलझ सकीं, यह कहना उसके लिए उचित नहीं है, किन्तु उससे जायसी का अध्ययन आगे बढ़ सका यह प्रमाणित है, क्योंकि उस प्रयास द्वारा निर्धारित पाठ को लेकर 'जायसी-ग्रन्थावली' और 'पदमावत' की कई टीकाएँ उसके बाद विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई। इन टीकाओं में सबसे उल्लेखनीय डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत की हुई संजीवनी व्याख्या है। अपनी व्याख्या के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए प्राक्कथन मे उन्होंने कहा है, "हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन" लिखते समय मेरा जो सांस्कृतिक दृष्टिकोण बना था, वही इस टीका के लिखने में भी रहा है। हिन्दी के प्रत्येक शब्द की परंपरा अपने अतीत काल से जुड़ी है। कौन शब्द कहाँ से आया है, उसके मूल अर्थ का किस प्रकार विकास हुआ है, उसका निश्चित अर्थ क्या है, इत्यादि प्रश्नों की छान-बीन के प्रति हिन्दी पाठकों का जागरूक होना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण को एक बार साहित्य-क्षेत्र में अपना लेने से बहुत लाभ होना सभव है।—" (पृ० ९)। और, इसमें सन्देह नहीं कि इस टीका से रचना का सांस्कृतिक पक्ष पर्याप्त पूर्णता के साथ 'पदमावत'-प्रेमियों के सम्मुख स्पष्ट हुआ है। अवश्य ही ये प्रयास अलम् नहीं हैं किन्तु इनसे जायसी की शब्द और अर्थ-विषयक समस्याओं के संबंध में जायसी के पाठको को अब उतनी चिंता कदाचित् नही रह गई है, जैसी पहले थी। फलतः जायसी और उनके 'पदमावत' की कुछ अन्य समस्याओं पर हम यहाँ अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। प्रकट है कि लेख की सीमित परिधि में केवल कुछ प्रमुख समस्याओं पर ही विचार करना हमारे लिए सभव होगा।

इन अन्य समस्याओं के संबंध में हम अब भी लगभग वहीं पर हैं जहाँ लगभग चार शताब्दी पूर्व थे। इनके समाधान का जो प्रयास १९२४ ई० में अपनी 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका में स्वर्गीय आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने किया था, वह हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था, और यही कारण है कि वह इतने समय तक प्रकाश-स्तंभ की भाँति टिक सका है। इसलिए आगे जो समस्याएँ प्रस्तुत की जा रही हैं, उनका आधार अधिकतर वही भूमिका होगी।

(१)

शुक्ल जी ने लिखा है कि जायसी के प्रेम का प्रारंभ रूप-लोभ से होता है—सुए के मुख से

पद्मावती के रूप की प्रशसा सुनते ही बिना उसे देखे रत्नसेन जो उसे प्राप्त करने केलिए दौड पडता है यह उसका रूप लोभ है प्रेम नही (भूमिका प्रथम सस्करण प० ३७) इस प्रसग मे शुक्ल जी ने लोभ और प्रेम के अन्तर को विस्तार से स्पष्ट किया है। प्रश्न यह है कि क्या शुक्ल जी का यह मत मान्य है अथवा इसका कोई अन्य समाधान भी संभव है।

वस्तुत: यह समस्या जायसी के अध्ययन की ही समस्या नही है, हिन्दी के समस्त सूफी कवियों के अध्ययन में हमारे सामने आती है। प्रेम का प्रादुर्भाव गुण-श्रवण, स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन अथवा प्रत्यक्ष दर्शन से इन सभी की कृतियों में होता है। इसलिए इस समस्या का समाधान भी कुछ व्यापक रूप से निगाह डाल कर खोजा जा सकता है।

ऐसा नहीं है कि जायसी ने इसका कोई समाधान न दिया हो किन्तु वह बहुत संक्षिप्त है, और कदाचित् इसीलिए इतना संक्षिप्त है कि वे अपने प्रेम रस के रसिक और विज्ञ पाठकों से यह अपेक्षा करते थे कि वे इतने से ही उसे ग्रहण कर लेंगे। संभव है कि जिन्हें वे अपने काव्य का पाठक समझते थे, उनके सामने यह समस्या रही भी न हो, जिस प्रकार यह आज हमारे सामने है। अस्तु।

जायसी का रत्नसेन पद्मावती से विवाह के बाद के प्रथम मिलन में वार्तालाप के प्रसग मे कहता है :—

अनु धनि तूँ ससिअर निसि माहाँ। हौं दिनअर तेहि की तूँ छाहाँ।
चाँदहि कहाँ जोति औ करा। सुरुज कि जोति चाँद निरमरा॥ (३०७, १-२)

और पद्मावती भी इसका समर्थन करती है, जब वह कहती है :—

हीरा दिपै जौं सुरुज उदोती। नाहिं त कित पाहन कहँ जोती।
रबि परगासे कँवल बिगासा। नाहिं त कित मधुकर कित बासा॥ (३१५, ६-७)

उनके इन कथनों का स्पष्टीकरण तब होता है जब हम प्रसिद्ध सूफ़ी संत और दार्शनिक इब्नुल अरबी (मृत्यु १२४० ई०) के सिद्धान्तों पर दृष्टि डालते हैं। उसने 'फ़ुसूसुल हिक़ाम' मे कहा है :—

"जिस प्रकार ईश्वर की प्रतिच्छाया के रूप में मनुष्य का निर्माण हुआ है, उसी प्रकार पुरुष की प्रतिच्छाया के रूप में स्त्री की रचना हुई है। इसीलिए पुरुष ईश्वर तथा स्त्री दोनों से प्रेम करता है। स्त्री का पुरुष से वही संबध है जो प्रकृति का ईश्वर से है। अत: इस अर्थ में जब स्त्री से प्रेम किया जाता है, तो वह प्रेम ईश्वरीय होता है।"[1]

जायसी ने रत्नसेन-पद्मावती के वार्तालाप में इसी विचार को सूर्य और चन्द्र, सूर्य और हीरा तथा सूर्य और कमल के प्रतीकों को लेकर प्रस्तुत किया है।

मंझन ने अपनी रचना 'मधुमालती'[2] में इस शंका का और भी विस्तृत उत्तर दिया है।

---

१. डॉ० श्यामसनोहर पांडेय, 'मध्ययुगीन प्रेमाख्यान', पृ० १९।

२ उद्धरणों के लिए देखिए, प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित ' मित्र प्रकाशन प्रा० लिमिटेड, प्रयाग, १९६१

प्रथम दर्शन में ही उनकी कथा का नायक मनोहर 'मधुमालती' से अपने इस प्रथम दर्शन जनित प्रेम का रहस्य स्पष्ट करता है।

वह इस प्रकार कहता है :—

कहै कुँवर सुनु पेम पियारी।
तोहि मोहि प्रीति पुब्ब बिधि सारी।
एहि जग जीवन मोहि तोहि लाहा।
मैं जिउ दै तोर दुक्ख बेसाहा।
मैं न आजु तोरे दुक्ख दुखारी।
तोरे दुख सेउं मोहि आदि चिन्हारी।
जेहि दिन सिरेउ आंस बिधि मोरा।
तेहि दिन मोहि दरसेउ दुख तोरा।
बर कामिनि तोहि प्रीति के नीरू।
मोहि मांटी भा सानि सरीरू।
पुब्ब दिनन सेउं जानहुं तुम्हरी प्रीति के नीर।
मोहि मांटी विधि सानि कै तौ यह सिरेउ सरीर॥ (११३)

मंझन के अनुसार नायक और नायिका का यह प्रेम-प्रसंग उसी समय से प्रारंभ होता है जब कि दोनों का निर्माण होता है, प्रेमी का शरीर भी प्रेमिका की प्रीति के जल से पंचतत्वों की मिट्टी सान कर बनाया जाता है। मंझन तो यहाँ तक कहते हैं कि जब जीव भी नायक के आदि-घट में नहीं आया था, तभी प्रेमिका का विरह-दुःख उसके घट में आ गया था :—

प्रान आदि-घट होत न आवा।
बिधि तोर दुख मोहि तब दरसावा॥ (११४,२)

और इसी दुःख की बदौलत उन दोनों के जीव भी अभिन्न हो गए थे :—

मैं सभ तजि संकरेउँ दुख तोरा।
मोर जिउ तोर तोर जिउ मोरा॥ (११४,१)

इस विचार को वे आगे और भी पल्लवित करते हैं, जब उनका नायक कहता है :—

मैं तैं दुवौ सदा संघ बासी।
औ संतत एक देह नेवासी।
औ मैं तुइं दुइ एक सरीरा।
दुइ मांटी सानी एक नीरा।
एक बारी दुइ बहै पनारी।
एक दिया दुइ घर उजियारी
एक जीउ दुइ घट संचारा

एक अगिनि दुइ ठाएँ बारा।
एकै हम दुइ कै औतारे।
एक मंदिल दुइ किए दुवारे।
एकै जोति रूप पुनि एकै एक परान एक देह।
आपुहि आपु जो देइ कोइ चाहै तेहि कर कौन संदेह। (११७)

इसीलिए मंझन दोनों को एक दूसरे से सदैव के लिए अविच्छेद्य भी बताते हैं :—

तैं जो समुंद लहरी मैं तोरी।
तैं रवि मैं नग किरनि अंजोरी।
मोहि आपुहि जनि जानु बिरारा।
मैं सरीर तुइं प्रान पियारा।
मोहि तोहि को पारै बेगराई।
एक जोति दुइ भाउ देखाई।
सभ गियान चखु देखेउं हेरी।
हम तुम्ह दुहुं परिचै कब केरी।
अजहूँ मोहि न चीन्हेसि बारी।
संवंरि देखु चित आदि चिन्हारी।
अरुझा फाँद पेम कर अहा जो दुहुँ जिय केर।
होत आपु महं परिचै सइं नर धर जिउ फेरि।। (११८)

मंझन के अनुसार इस प्रेमिका की प्राप्ति पर प्रेमी को जैसे वह सत्य मिल जाता है जिसकी खोज वह अनेकानेक जन्म धारण करके करता रहा है; नायिका को पाकर उसे जैसे समस्त सृष्टि का रहस्य, उसकी समस्त समस्याओं का समाधान एक साथ मिल जाता है और इसीलिए, उसके पहिचानने में उसे देर भी नहीं लगती है :—

अब लहि बिनु जिय जीवन सारा।
आजु देखि तोहि जीउ संभारा।
देखत खिन पहिचानां तोही।
इहै रूप जेइं छंदरा मोही।
इहै रूप तब अहेउ छपानां।
इहै रूप अब सिस्टि समानां।
इहै रूप सकती औ सीऊ।
इहै रूप त्रिभुवन कर जीऊ।
इहै रूप परगट बहु भेसा।
इहै रूप जग रांक नरेसा।
इहै रूप त्रिभवन जग बरसै महि पयाल आगास।
सोइ रूप परगट मैं देखा तुव मायँ परगास ११९

मंझन के अनुसार प्रेमी को फिर यह प्रेमिका का रूप ही रूप मात्र की इयत्ता की अनुभूति कराता है। मनोहर कहता है :—

इहै रूप परगट बहु रूपा।
इहै रूप बहु भाउ अनूपा।
इहै रूप सभ नैनन्ह जोती।
इहै रूप सभ सामर मोती।
इहै रूप सभ फूलन्ह बासा।
इहै रूप रस भंवर बेरासा।
इहै रूप ससिहर औ सूरा।
इहै रूप जग पूरि अपूरा।
इहै रूप अंत आदि निदाना।
इहै रूप धरि धर सो छियाना।
इहै रूप जल थर औ महिअर भाउ अनेग देखाउ।
आपु गंवाइ जो रे कोइ देखै देखै सो किछु पाउ॥ (१२०)

शुक्ल जी कहते हैं कि अलाउद्दीन भी तो यही करता है, वह भी तो राघव के मुख से वैसा ही वर्णन सुनकर चित्तौर पर चढ़ाई कर देता है, जिस प्रकार सुए के द्वारा पद्मावती का रूप-वर्णन सुनकर रत्नसेन उसके लिए योगी बन कर निकल पड़ता है। फिर क्यों एक प्रेमी के रूप मे दिखाई पड़ता है और दूसरा रूप—लोभी लंपट के रूप मे ? वे कहते हैं, अलाउद्दीन के विपक्ष मे दो ही बाते हैं—(१) पदमावती का दूसरे की विवाहित होना और (२) अलाउद्दीन का दुष्ट प्रयत्न करना।. . .यदि अनौचित्य का यह विचार छोड़ दिया जाए तो पद्मावती का रूप-वर्णन सुनते ही तत्काल दोनों के हृदयों में उसके प्रति जो चाह उत्पन्न हुई, वह एक दूसरे से भिन्न नही जान पड़ती है। (पृ० ३९)

इस अनौचित्य की जो दो बातें शुक्ल जी ने उठाई हैं, उनमें से प्रथम सूफ़ियों के लिए निषिद्ध नहीं है। 'फ़ारस' की सूफ़ी कथाओं में यह एक सामान्य प्रवृत्ति है। शीरीं-फरहाद और लैला-मजनूं की कहानियों में शीरीं और लैला दोनों अन्य पुरुषों की विवाहिताएँ हैं।

प्रसिद्ध कवि निज़ामी की 'खुसरो-शीरीं' को देखिए। शीरीं खुसरो की विवाहित रानी है। इसके अनंतर फ़रहाद नाम का शिल्पी शीरीं पर अनुरक्त हो जाता है। खुसरो जब यह सुनता है, वह उसे अपने प्रेम को प्रमाणित करने के लिए बेसतून पर्वत को काट कर शीरीं के लिए दूध की नहर लाने के लिए कहता है। फरहाद शीरीं का चित्र सामने रख कर पहाड़ काटने लगता है और अन्त में अपने काम में सफल भी होता है। किन्तु जब खुसरो को यह ज्ञात होता है, वह यह ख़बर फैला देता है कि शीरीं मर गई, और इस समाचार को सुन कर फ़रहाद अपने प्राण छोड देता है। शीरीं उसका मजार बनवाती है। कुछ समय बाद खुसरो का एक बेटा उसकी हत्या कर डालता है और शीरीं उसको दफ़न करके आत्म-हत्या कर लेती है।[1]

१ देखिए, श्याममनोहर पाडय मध्ययुगीन

निज़ामी की लैला-मजनूँ की कथा इस प्रकार है। क़ैस (जो पीछे मजनूँ के नाम से प्रसिद्ध होता है) लैला के साथ एक ही मकतब में पढ़ता है। दोनों में प्रेम हो जाता है। जब लैला के माँ-बाप को यह ज्ञात होता है, वे लैला का क़ैस (मजनूँ) से मिलना बंद कर देते हैं, और उसका विवाह इब्ने सलाम से कर देते हैं। फिर भी, क़ैस (मजनूँ) का प्रेम बना रहता है, और वह उसके विरह में पागलों की भाँति घूमता रहता है। इसीलिए उसको लोग 'मजनूँ' कहने लगते हैं। कुछ समय बाद इब्ने सलाम की मृत्यु हो जाती है। तब लैला और मजनूँ मिलते हैं, किन्तु शीघ्र ही लैला की मृत्यु हो जाती है और मजनूँ भी उसकी क़ब्र पर प्राण दे देता है।[1] खुसरो की देवलदेवी और खिज्र खाँ की कहानी में भी इसी प्रकार के प्रेम का चित्रण है।

हिन्दी की सूफ़ी कथाओं में भी इस प्रकार का प्रेम चित्रित हुआ है, यद्यपि इसका प्रचलन बहुत प्रारंभ में ही मिलता है और बाद में भारतीय वातावरण में इसका निषेध-सा हो गया। मुल्ला दाऊद का 'चंदायन' इसी प्रकार के प्रेम की कथा है। उसकी नायिका चंदा बावन की विवाहिता है, लोरिक और वह एक-दूसरे को देख कर परस्पर मुग्ध होते हैं और प्रेम करने लगते हैं। पीछे वे कुछ बाधाओं के अनंतर परस्पर विवाहित भी हो जाते हैं। फलतः भारतीय सूफ़ी-साधना मे भी इस प्रकार का प्रेम वर्जित नहीं था, यह प्रकट है, और केवल इसके आधार पर अलाउद्दीन की भावना को एक नाम और रत्नसेन की भावना को दूसरा नाम नहीं दिया जा सकता है।

अनौचित्य की जो दूसरी बात शुक्ल जी ने कही है, वह अवश्य कुछ जोर रखती है। अलाउद्दीन का प्रयत्न दुष्ट है। फारसी सूफ़ी प्रेम-कथाओं में हम देखते हैं कि प्रेमी अन्य की विवाहिताओं से प्रेम करते हैं किन्तु उस प्रेमिका को अपनाने के लिए कोई दुष्ट प्रयत्न नहीं करते हैं। हिन्दी सूफ़ी प्रेम-कथाओं के नायक भी इस प्रकार कोई दुष्ट प्रयत्न नहीं करते है। केवल एक अपवाद है : वह है 'चन्दायन' का लोरिक। वह चन्दा को लेकर भाग निकलता है। किन्तु इसी कारण 'चन्दायन' को सूफी काव्य कहने में भी कुछ आलोचकों को आपत्ति है। अधिक से अधिक एक ही बात लोरिक के इन दुष्ट प्रयत्नों के संबंध में उसके पक्ष में कही जा सकती है, और वह यह है कि चाँदा स्वयं भी लोरिक के साथ बावन के घर से निकल भागना चाहती है, कारण अनेक बताए जाते हैं, किन्तु कम-से-कम इतना निश्चित है कि न बावन उससे प्रेम करता है, और न वह बावन से प्रेम करती है। खुसरो की देवल देवी—खिज्र खाँ कहानी में भी दुष्ट प्रयत्नों का समावेश है। इसलिए अलाउद्दीन के दुष्ट प्रयत्नो के आधार पर भी उसकी भावन को सूफ़ी प्रेम कोटि से बाहर करना कदाचित् संभव न होगा।

मेरी समझ में प्रेम का अनिवार्य लक्षण इन समस्त सूफ़ी रचयिताओं के अनुसार विरहानुभूति है। जिस चाह के साथ विरह का दुःख है, वही प्रेम है, अन्यथा वह लोभ है। इसीलिए इन कवियों ने विरह पर बहुत बल दिया है। अरबी-फ़ारसी सूफ़ी कहानियों में तो प्रेम विरह का ही एक प्रकार से दूसरा नाम है। इस जीवन में प्रेमी और प्रेमिका मिलन-सुख नही उठा पाते हैं। 'शीरीं-फरहाद' और 'लैला-मजनूँ' में तो ऊपर हमने यह देखा ही है, 'यूसुफ़-जुलेखा' मे भी यही बात दिखाई पड़ती है, यद्यपि उसमें फिर विरह का रूप बदल जाता है और वह दिव्य हो जाता

---

१ देखिए, श्याममनोहर पांडेय 'मध्ययुगीन प्रेमाख्यान'

है। अपनी प्रसिद्ध रचना 'दूहयाउल उलूम' में अलगज़ालीन 'यूसुफ़-जुलेखा' की कथा इस प्रकार दी है। जुलेखा यूसुफ़ पर मरती रहती है। यदि कोई कहता है कि उसने यूसुफ़ को देखा है तो वह उसे गले का हार उतार कर दे देती है। उसके पास ७० ऊँट हीरे है। वे सब धीरे-धीरे इसी प्रकार खतम हो जाते हैं और अन्त में यूसुफ़ से उसका विवाह हो जाता है। किन्तु विवाह हो जाने के बाद वह यूसुफ़ के साथ रहना भी अस्वीकार कर देती है और कहती है "मैं तुमसे उसी समय तक प्रेम करती रही जब तक ईश्वर को नहीं जानती थी। अब मेरे हृदय में ईश्वरीय प्रेम ने घर कर लिया है। वहाँ अब और किसी को नहीं रख सकती हूँ।"[१]

इस विरह-दुःख पर प्रत्येक सूफ़ी लेखक ने बड़ा बल दिया है। इसका एक भी अपवाद नहीं मिलता है। जायसी ने विरह पर जो बल दिया है, वह तो भलीभाँति विदित ही है, मंझन भी इस दुःख-तत्व के स्पष्टीकरण में बड़े सहायक सिद्ध होते हैं।

मंझन की कथा का नायक नायिका से कहता है कि उसने जीव को देकर उसका दुःख (उसके विरह का दुःख) मोल लिया था :—

मैं जिउ दै तोर दुक्ख बेसाहा।
मैं न आजु तोरे दुक्ख दुखारी।
तोरे दुख सेउं मोहि आदि चिन्हारी।
जेहि दिन सिरेउ आंस विधि मोरा।
तेहि दिन मोहि दरसेउ दुख तोरा। (११३-२-४)

वे तो कहते हैं कि दुख का व्रत ग्रहण करने से ही मानव मानव हुआ :—

दुख मानुस कर आदि गरासा।
ब्रह्म कंवल महं दुख कर बासा।
जेहि दिन तेहि दुख सिस्टि समानां।
तेहि दिन तें जिउ कै जिउ जानां।
मोहि न आजु उपजेउ दुख तोरा।
तोर दुख आदि संघाती मोरा।
अब लै बहौं दुक्ख कै कांवरि।
दुइ जग सुक्ख देउं नेउछावरि।
मैं अपान दै तोर दुख लिया।
मरि कै अब सो अमृत पिया।
तोर दुक्ख मधुमालति सुखदायक संसार।
जेहि जिय भांति तोर दुख उपजा बनि सो जग औतार। (११५)

पुनः मंझन कहते हैं कि प्रेम ने दुःख को देख कर ही मानव के हृदय में बसेरा लिया :—

---

१ द्र० हरि पांडेय 'मध्ययुगीन प्रमाख्यान' पृ० २२

सुनिउ जाहि दिन सिस्टि उपाई।
प्रीति परेवा दिहेउ उड़ाई।
तीनिउ लोक ढूंढ़ि कै आवा।
आपु जोग कहुं ठाउ न पावा।
तब फिरि मोहि घट पैसेउ आई।
रहेउ लोभाइ न गएउ उड़ाई।
तीनि भुवन तब पूंछीं बाता।
कस तुइं मानुस के घट राता।
कहेसि दुक्ख मानुस कर आंसा।
जहां दुक्ख तहं मोर नेवासा।
जेहि ठां दुक्ख होइ जग भीतर प्रीति होइ बस ताहि।
प्रीति बात का जानै बपुरा जेहि सरीर दुख नाहिं। (११६)

मेरी समझ में अब हम इस स्थिति में हैं कि समस्या का समाधान दे सकें। जायसी के रत्नसेन की भाषा वही है जो मंझन के मनोहर की है, किन्तु अलाउद्दीन की भाषा दुःखवाली भाषा नहीं है, वह मंझन के मनोहर की भाँति यह नहीं कह सकता है :—

अब लै वहौं दुक्ख कै कांवरि।
दुइ जग सुक्ख देउं नेउछाउरि॥ (११५)

इन सूफ़ी कवियों की दृष्टि में जब तक कोई भी प्रेम का दम भरने वाला दुख की काँवरि नहीं ढोता है और दोनों जगत् के सुख उस दुःख पर न्योछावर करने को प्रस्तुत नहीं है, वह प्रेमी नहीं है, रूप-लोभी है, दंभी है, छली है। अलाउद्दीन यही है, और इसलिए रत्नसेन से भिन्न है। रत्नसेन और अलाउद्दीन को एक ही पथ का पथिक नहीं माना जा सकता है।

(२)

शुक्ल जी ने इसी प्रकार एक दूसरी समस्या यह उठाई है कि 'पद्मावत' एक प्रेमगाथा मात्र है या कि एक जीवन-गाथा, और, उन्होंने उत्तर दिया है कि वह "एक प्रेमगाथा ही है, पूर्ण जीवन-गाथा नहीं।. . .दाम्पत्य के अतिरिक्त मनुष्य की और वृत्तियाँ, जिनका कुछ विस्तार के साथ समावेश है, यात्रा, युद्ध, सपत्नी-कलह, मातृस्नेह, स्वामिभक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल और सतीत्व हैं, पर इनके होते हुए भी 'पदमावत' को हम शृङ्गारप्रधान काव्य ही कह सकते हैं। 'रामचरित' के समान मनुष्य जीवन की भिन्न-भिन्न बहुत-सी परिस्थितियों और संबंधों का इसमें समन्वय नहीं है।"—(भूमिका, पृ० ३५-३६)।

शुक्ल जी का यह कथन रचना के पूर्वार्द्ध तक के लिए तो मान्य है किन्तु यदि पूरी रचना को लिया जाए तो इसके मानने में कठिनाई प्रतीत होती है। 'पदमावत' अपने उत्तरार्द्ध में आने वाले परिस्थिति और संबंध-वैविध्य में 'रामचरित मानस' से कम नहीं है बल्कि इस विषय में दोनों लगभग समान हैं 'मानस' में छल से सीताहरण होता है इसमें छल से रत्नसेन बंदी किया जाता है

उसमें सुग्रीव-हनुमान की सहायता से लंका पर आक्रमण होता है, इसमें गोरा-बादल की सहायता से दिल्ली का अभियान होता है। 'मानस' में राम सीता को छुड़ाने में कृतकार्य होते हैं, इसमे पद्मिनी रत्नसेन को छुड़ाने में कृतकार्य होती है। उसमें शूर्पणखा रावण को सीताहरण के लिए प्रेरित करती है, इसमें राघव अलाउद्दीन को पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है। देवपाल से रत्नसेन का युद्ध और उसमें उसका मारा जाना तथा उसके शव के साथ पदमावती और नागमती का चितारोहण करना राजपूती वीरता और सतीत्व के ऐसे उदाहरण हैं जो 'पदमावत' मे विशेष हैं। 'मानस' में राम पिता की आज्ञा के पालन के लिए वन जाते हैं और भरतादि के अनुरोध पर भी अयोध्या नहीं लौटते हैं, इसमें भी रत्नसेन अलाउद्दीन की माँगों को एक बार ठुकरा देता है तो डट कर उसका सामना करता है। पुनः अलाउद्दीन से संधि कर लेने के बाद बादशाह के गढ़ के भीतर आने पर गोरा-बादल कितना ही उसे समझाते है कि तुर्क का विश्वास न करना चाहिए और गढ़ में उसको पाकर उसे बन्दी कर लेना चाहिए, किन्तु वह सत्य पर डटा रहता है और उनकी बातों को नहीं मानता है। ये ऐसे तत्व हैं कि जो भुलाए नहीं जा सकते है। इसलिए जहाँ तक रचना का उत्तरार्द्ध है वह उतनी ही जीवन-गाथा है जितनी कोई भी अन्य रचना हो सकती है। रचना का पूर्वार्द्ध अवश्य प्रेम-गाथा मात्र है। जायसी ने पूर्वार्द्ध में प्रेम तत्व को जान-बूझ कर अधिक विस्तार दिया है। किन्तु 'मानस' में भी तो बालकांड का पूर्वार्द्ध और समस्त उत्तरकांड अवतारवाद और भक्तितत्व का निरूपण मात्र करते है ? यदि काव्य-प्रबंध की दृष्टि से विचार करें तो 'मानस' के ये अंश उसके उतने अनिवार्य अंश नहीं माने जा सकते हैं जितने 'पदमावत' के पूर्वार्द्ध के विभिन्न अंश। और, इसी प्रकार के तत्त्वों के कारण कुछ समालोचक 'रामचरित मानस' को काव्य की अपेक्षा 'पुराण' कहना अधिक उचित समझते है। किन्तु तुलसी-दास के लिए तो ये अंश नितान्त आवश्यक थे, भले ही उनकी रचना को कोई 'काव्य' न कह कर 'पुराण' कहे। वही बात जायसी के संबंध में भी कही जा सकती है। उनके लिए भी रचना के पूर्वार्द्ध में प्रेम तत्व को प्रमुखता देते हुए उसको असाधारण विस्तार देना आवश्यक था, भले ही उनकी रचना को कोई जीवन-गाथा न कह कर प्रेमगाथा ही कहे। वस्तुतः जीवन-गाथाएँ दोनो ही हैं, अन्तर यही है कि एक भक्ति प्रधान जीवन-गाथा है और दूसरी प्रेम प्रधान जीवन-गाथा।

(३)

एक तीसरी समस्या जो शुक्ल जी ने उठाई थी, और दूसरे भी अनेकानेक आलोचकों ने उठाई है, वह रचना के अन्योक्ति परक अथवा समासोक्ति परक होने की है। मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा . . . और तन चित उर मन राजा कीन्हा . . . आदि पंक्तियों वाला छंद निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है। 'जायसी ग्रन्थावली' के संपादन में प्रस्तुत लेखक ने १६ प्राचीन प्रतियों का उपयोग किया था। उनमें से केवल तीन प्रतियों में और एक प्रति के उस अंश मे जो उसके खंडित हो जाने के बाद किसी अन्य प्रति के आधार पर पूरा किया गया था, यह छंद मिला था। ये तीनों प्रतियाँ भी रचना की पाठ-परंपरा में सब से नीचे की पीढ़ियों में आती हैं। इसलिए यह निश्चित है कि उक्त छद प्रक्षिप्त है और बहुत पीछे का प्रक्षेप है अभी तक जायसी के आलोचक इस छद का मोह नहीं छोड़ सके हैं और किसी न किसी प्रकार से इसका विवेचन-विश्लेषण करते ही हैं फिर भी जो स्थिति

है वह इतनी स्पष्ट है कि उसके संबंध में और कुछ कहना होगा किन्तु इस छंद को छोड़ देने पर भी समस्या पर विचार करना ही चाहिए।

अन्योक्ति वहाँ होती है जहाँ कथा प्रसंग से भिन्न वस्तुओं के द्वारा प्रस्तुत प्रसंग की व्यजना होती है; इसी प्रकार जहाँ पर वाच्यार्थ प्रस्तुत होता है और कोई व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत होता है, वहाँ पर समासोक्ति होती है। रचना मे अन्योक्तियाँ बहुत ही कम आई हैं। समासोक्तियाँ अवश्य अधिक आई हैं। फिर भी, सर्वत्र समासोक्ति मिलती हो, ऐसा नहीं है। रचना के उत्तरार्द्ध में तो अधिकतर वाक्यार्थ ही अभिप्रेत है और पूरी रचना में किसी अन्योक्ति या समासोक्ति-माला का निर्वाह करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है।

(४)

एक और समस्या 'पदमावत' के प्रेम के स्वरूप के संबंध में उठती रही है। इसके प्रसंग मे एकाध समालोचकों द्वारा यहाँ तक कहा गया है कि 'पदमावत' का प्रेम मूलतः लौकिक है, कदाचित् उसे समाज के लांछन से बचाने के लिए रचना के बीच-बीच में परमार्थ की व्यजना की गई है।

सूफ़ियों में स्त्री-पुरुष के प्रेम के संबंध में दो विचारधाराएँ रही हैं। एक तो वह रही है जिसके नेता इब्नुल अरबी रहे हैं। इस विचारधारा के अनुसार ईश्वर और मनुष्य का जो संबंध है, वही पुरुष और स्त्री का है, इसलिए स्त्री-पुरुष का प्रेम भी उसी प्रकार दिव्य है, जिस प्रकार ईश्वर और मनुष्य का। दूसरी विचारधारा के नेता अल्गज़ाली रहे है, जिनके अनुसार स्त्री-पुरुष का प्रेम उस ईश्वर-मनुष्य प्रेम के लिए एक पुल मात्र है। ईश्वर प्रेम की प्राप्ति के लिए ही इसकी उपयोगिता है; उसकी अनुभूति कर लेने के बाद इसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इसीलिए जैसा ऊपर कहा गया है, यूसुफ-जुलेखा की कथा देते हुए उन्होंने दिखाया है कि यूसुफ से विवाह कर लेने के बाद जुलेखा उसके पास तक नहीं फटकती है और कहती है कि उसने ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति कर ली है, इसलिए वह इस प्रेम को अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकती है। जायसी इनमें से प्रथम विचार-धारा के पोषक हैं।[1] हिन्दी के अन्य अनेक सूफ़ी कवि भी प्रायः इसी विचार-धारा के पोषक हैं। हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे स्त्री-पुरुष के संबंध को किसी भी आध्यात्मिक साधना का विरोधी समझते हैं। ऐसा हमारे संस्कारों के कारण है। इन संस्कारों से ऊपर उठे बिना सूफ़ियों के प्रेम-तत्व को हम भली भाँति न समझ सकेंगे :—

(५)

इसी प्रसंग में एक और समस्या को लेकर यह विवेचन समाप्त करूँगा, वह है 'पदमावत' तथा अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यानों में संभोग चित्रण की। प्रायः सभी में नायक-नायिका का संभोग चित्रण मिलता है, इसका कारण क्या है ? जायसी ने इसका उत्तर दिया है। वे कहते हैं :—

---

१. देखिए, 'जायसी का प्रेम-पंथ', शीर्षक प्रस्तुत लेखक का लेख, सम्मेलन पत्रिका, १९४४ ४५, पृ० २६१ २६९

चतुर नारि चित अधिक चिहूटै। जहाँ पेम बाँधै किमि छूटै।
किरिरा काम केलि मनुहारी। किरिरा जेहि नहि सो न सुनारी।
किरिरा होइ कंत कर तोखू। किरिरा किहे पाव धनि मोखू।
जेहि किरिरा सो सोहाग सोहागी। चंदन जैस स्यामि कँठ लागी।(३१७)

प्रेमपात्र की परितुष्टि के लिए आत्मोत्सर्ग का जो सिद्धान्त इन सूफियों ने अपने सामने रक्खा है, उसका यह एक स्वाभाविक विकास ज्ञात होता है। एक स्थान पर जायसी की नायिका कहती है :—

ओहि न मोरी कछु आसा हौं ओहि आस करेउँ।
तेहि निरास प्रीतम कहँ जिउ न देउँ का देउँ॥

जिस निरास (निरपेक्ष) प्रीतम को वह अपना जीव देने के लिए इतनी आतुर है, उसे शरीर देना तो उसका धर्म ही है।

यहाँ यह अवश्य ज्ञातव्य है कि यह विकास भारतीय है, फारस तक में रची हुई सूफ़ी प्रेम-कथाओं में यह शारीरिक संबंध चित्रित नहीं हुआ है। खुसरो कदाचित् पहले सूफ़ी कवि हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में इस शारीरिक संबंध को स्थान दिया है। भारतीय प्रेम-कथाओं का अवश्य यह एक अनिवार्य अंग-सा रहा है। हिन्दी की असूफ़ी प्रेमकथाओं में भी यह बात दिखलाई पड़ती है। इसलिए ज्ञात होता है कि यह तत्व सूफ़ियों ने भारतीय परंपराओं से ग्रहण किया है।

राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी लिपि

डॉ० भोलानाथ तिवारी

जिस प्रकार किसी बहुभाषी राष्ट्र के लिए राष्ट्र एवं राज्य-भाषा के रूप में कोई एक भाषा अपेक्षित है, उसी प्रकार बहुलिपि वाले राष्ट्र के लिए राष्ट्रलिपि के रूप में एक लिपि भी अत्यंत आवश्यक है। कहना न होगा कि भारत इसी प्रकार का एक बहुलिपि वाला राष्ट्र है। स्वभावत: यह प्रश्न उठता है कि किस लिपि को भारत की राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

भारत की प्रमुख प्राचीन तथा आधुनिक लिपियाँ ये हैं:—

ब्राह्मी, खरोष्ठी, गुप्त, कुटिल, देवनागरी, शारदा, बँगला, तेलुगु, कन्नड़, ग्रंथ, कलिंग, तमिल, वट्टेलुत्तु, मलयालम, गुरुमुखी, गुजराती, मैथिली, मोड़ी, कैथी, महाजनी तथा उर्दू।

अंग्रेजी के साथ हमें रोमन लिपि मिली है। उसे मिलाकर कुल प्रमुख लिपियाँ २२ हुईं, जिनसे किसी न किसी रूप में भारत का संबंध है।

उपर्युक्त सूची पर यदि दृष्टि दौड़ाएँ तो इनके दो वर्ग बनाए जा सकते हैं— (क) अप्रचलित अथवा प्राचीन लिपियाँ—जैसे ब्राह्मी, खरोष्ठी, गुप्त तथा कुटिल आदि। (ख) प्रचलित लिपियाँ—जैसे देवनागरी, बँगला, तमिल, गुरुमुखी आदि।

इनमें से जो अप्रचलित लिपियाँ हैं, आज की जनता से पूर्णत: दूर हैं। उनका प्रयोग लेखन में कोई भी नहीं करता। उनकी जानकारी भी मात्र कुछ लिपि-विशेषज्ञों या पुरातत्त्ववेत्ताओं आदि को ही है। उनमें पुस्तकें भी प्राय: नहीं छपतीं। ऐसी स्थिति में उनको राष्ट्रलिपि बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। मृतभाषा की भाँति उन्हें मृतलिपि कहा जा सकता है। प्रचलित लिपियों में महाजनी, कैथी, मोड़ी, शारदा आदि बिलकुल सीमित क्षेत्रों में प्रचलित हैं और विशिष्ट लोगों द्वारा ही प्रयुक्त होती हैं। इस प्रकार उनका ज्ञान बहुत ही कम लोगों को है। राष्ट्र की जनसंख्या में उनको जानने वालों का प्रतिशत अत्यंत नगण्य है। अतएव इनमें भी कोई राष्ट्रलिपि होने के योग्य नहीं है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की लिपियों को छोड़ देने पर अब भारत की वे प्रमुख लिपियाँ ही शेष रहती हैं, जिनका प्रयोग भारत की प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण भाषाओं के लेखन में होता है। ये लिपियाँ संबद्ध भाषाओं के साथ नीचे दी जा रही हैं:—

देवनागरी लिपि—संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा मराठी के लिखने में इसका प्रयोग होता है। मनीपुरी भाषाभाषी मनीपुरी भाषा के लिए बँगला छोड़कर इसके प्रयोग पर विचार कर रहे हैं। भारत के सिंधी भी अरबी लिपि पर आधारित सिंधी 'जो उर्दू से भिन्न नहीं है' को छोड़ कर उसके स्थान पर देवनागरी लिपि को अपनाने के पक्ष में होते जा रहे हैं

उर्दू भाषा के लिए भी देवनागरी लिपि के प्रयोग की बात चल रही है। उत्तर प्रदेश में उर्दू वालो की एक समिति भी बन गई है, जो इस प्रश्न पर सभी दृष्टियों से विचार कर रही है। उर्दू के प्राय बहुत से प्रसिद्ध कवियों एवं लेखकों का साहित्य देवनागरी लिपि में प्रायः ज्यों-का-त्यों आ चुका है। उर्दू की 'उर्दू-साहित्य' (इलाहाबाद) तथा कुछ और पत्रिकाएँ भी देवनागरी में सफलतापूर्वक प्रकाशित हो रही हैं। पंजाबी भाषा लिखने में भी कुछ लोग देवनागरी का प्रयोग करते है। दक्षिण भारत की भाषाओं तथा बँगला आदि के भी कुछ ग्रंथ देवनागरी में प्रकाशित हो चुके हैं और होते जा रहे हैं। भारत के बाहर नेपाल की लिपि भी देवनागरी है।

उड़िया लिपि—उड़िया भाषा लिखने में प्रयुक्त।

तमिल लिपि—तमिल भाषा के लिखने में प्रयुक्त।

तेलुगु लिपि—तेलुगु भाषा के लिखने में प्रयुक्त।

मलयालम लिपि—मलयालम भाषा के लिखने में प्रयुक्त

गुजराती लिपि—गुजराती के लिखने मे प्रयुक्त।

गुरुमुखी—पंजाबी के लेखन में प्र ुक्त।

उर्दू या फ़ारसी-अरबी लिपि—उर्दू, काश्मीरी तथा सिंधी भाषा के लेखन में प्रयुक्त।[1]

रोमन—अंग्रेज़ी लेखन में प्रयुक्त। कुछ लोग अन्य प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाओं को भी इसमें लिखते हैं।

उपर्युक्त प्र ोगों से यह स्पष्ट है, कि देवनागरी का प्रयोग ही सर्वाधिक होता है। इसी कारण देवनागरी का ही राष्ट्रलिपि के रूप मे नाम लिया जा रहा है। यह उल्लेख्य है कि राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी के नाम का सामने आना कोई नई बात नहीं है। आज से लगभग आधी सदी पूर्व सं० १९६४ वि० मे एक ऐसे प्रदेश में यह आवाज़ सबसे पहले सुनाई पड़ी थी, जो न तो हिन्दी या मराठी प्रदेश है और न जहाँ देवनागरी लिपि दैनिक काम-काज में ही प्रयुक्त होती है। वह प्रदेश बंगाल था। बंगाल आज इन बातों का चाहे कितना भी विरोधी क्यों न हो, पिछली तथा इसी सदी के पूर्वार्द्ध में वह इस क्षेत्र में एक प्रकार से अग्रणी रहा है। इसका कारण यह था कि वहाँ सामान्य प्रबुद्धता अन्य प्रांतों की तुलना में प्रायः पहले आई। वहीं राजा राममोहन राय ने पहले-पहल राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दी का नाम लिया और वहीं इस सदी के पहले दशक में कलकत्ता हाईकोर्ट के जस्टिस श्री शारदाचरण मित्र ने सर्वप्रथम देवनागरी लिपि को राष्ट्रलिपि के रूप मे स्वीकार करने का सुझाव दिया। यों इस विषय में स्वामी दयानंद सरस्वती (ध्यान देने योग्य है कि ये भी मराठी या हिन्दी प्रदेश के नहीं थे) पहले संकेत कर चुके थे। मित्र महोदय की प्रेरणा से देवनागरी लिपि के देशव्यापी प्रचार-प्रसार के लिए 'एक लिपि-विस्तार-परिषद्' की स्थापना

---

१. कश्मीरी भाषा के लेखन में पहले शारदा लिपि का प्रयोग होता था। अब केवल कुछ ब्राह्मण परिवार ही शारदा का प्रयोग करते हैं। अतः कश्मीरी भाषा की लिपि शारदा नहीं है, जैसा कि ऑफ़िशल लैंग्विज कमीशन की रिपोर्ट में कहा गया है, अपितु उर्दू है। कश्मीरी तथा सिंधी के लिए प्रयुक्त लिपि भी उर्दू भाषा के लिए प्रयुक्त लिपि से विशेष भिन्न नहीं है

हुई और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'देवनागर' नामक पत्रिका निकाली गई जिसे देश के हर कोने से सहयोग प्राप्त हुआ।

देवनागरी के साथ ही कुछ कोनों से रोमन को राष्ट्रलिपि बनाने का स्वर भी सुनाई पड़ रहा है। इन दो के अतिरिक्त किसी अन्य लिपि का नाम राष्ट्रलिपि के रूप में नहीं लिया जा रहा है। इसका कारण है अन्य लिपियों का अपेक्षया सीमित एवं मात्र क्षेत्रीय प्रचार एवं उपयोग। अब विचार्य है कि देवनागरी और रोमन में राष्ट्रलिपि होने के योग्य कौन-सी लिपि है। जैसा कि अधिकांश लोग कह रहे हैं तथा कई दशकों से कहते आ रहे हैं, यह स्थान नागरी ही ले सकती है, रोमन नहीं। इससे सम्बद्ध प्रमुख तर्क नीचे दिए जा रहे हैं।

रोमन लिपि राष्ट्रलिपि क्यों नहीं हो सकती?

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी जैसे कुछ भाषाशास्त्रविद् तथा कुछ अंग्रेजी-प्रेमी रोमन को राष्ट्रलिपि बनाने के पक्ष में हैं। किन्तु निम्नांकित बातों के कारण ऐसा होना कठिन-सा प्रतीत होता है :—

(१) सबसे बड़ी बात तो यह है कि रोमन एक विदेशी लिपि है। इसके साथ विदेशी भावनाएँ संबद्ध हैं। विज्ञान के विमान पर बहुत ऊँचे उड़ कर भी मानव अभी तक सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय भावनाओं को तिलाञ्जलि नहीं दे सका है। इस प्रसंग में कुछ लोग टर्की का नाम लेते हैं। टर्की ने अरबी लिपि छोड़कर रोमन लिपि अपना ली। ऐसे लोग कदाचित् यह भूल जाते हैं कि टर्की की समस्या हमारी समस्या से पूर्णतया भिन्न थी। पहली बात तो यह है कि उनकी अपनी लिपि कोई न थी। ऐसी स्थिति में जब दूसरे की चीज ही लेनी है तो अच्छी चीज क्यों न ली जाय, यह भावना उन लोगों में कार्य कर रही थी। दूसरे अरबी लिपि बहुत अवैज्ञानिक तथा उनके लिए अपर्याप्त थी, अतः सुविधाजनक भी नहीं थी। भारत में ये दोनों ही बातें नहीं हैं। हमारे पास अपनी लिपियाँ हैं, साथ ही उनमें से कई हमारे लिए आवश्यकताओं की दृष्टि से पूर्ण एवं सुविधाजनक हैं।

(२) रोमन के जानने वाले देवनागरी आदि भारतीय लिपियों की तुलना में बहुत ही थोड़े हैं। ऐसी स्थिति में, जिस लिपि के जानने वाले प्रायः अत्यल्प ही नहीं, सर्वाल्प हैं, उसे राष्ट्रलिपि कैसे बनाया जा सकता है?

(३) रोमन लिपि, लिपि-विकास की दृष्टि से, अत्यंत विकसित तथा वर्णात्मक (alphabetic) अवश्य है, किन्तु जिन भाषाओं के लिए इसका प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से हो रहा है, उनमें भी इसका वैज्ञानिक रूप सामने नहीं आया है। आशय फ्रेंच और अंग्रेजी आदि से है। इन दोनों भाषाओं में वर्तनी (spelling) तथा उच्चारण के बीच की दुर्गम खाई इसका स्पष्ट प्रमाण है। इसमें सी (c) जैसे ऐसे भी अक्षर हैं, जिनका ध्वन्यात्मक मूल्य प्रायः अनिश्चित-सा है। हम अंग्रेजी के माध्यम से रोमन लिपि से परिचित हुए हैं और अंग्रेजी में आई (i), यू (u) आदि कई अक्षरों का प्रयोग एकाधिक ध्वनियों के लिए होता है। इस प्रकार अपनी वैज्ञानिकता के बावजूद रोमन का जो स्वरूप हमारे सामने है उसे बहुत वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। एक बात और भारतीय भाषाओं के लिए रोमन अक्षरों का अंग्रेजी आदि से अलग मूल्य

निर्धारित करने की बात भी की जाती है। इस प्रसंग में एक कठिनाई की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। अंग्रेजी से हमारा सम्बन्ध रहा है, और आगे भी रहेगा। ऐसी स्थिति में एक ही अक्षर के दो ध्वन्यात्मक मूल्यों को—एक अंग्रेजी के लिए और दूसरा भारतीय भाषाओं के लिए—एक साथ स्वीकार करना व्यावहारिक दृष्टि से सुविधाजनक नहीं कहा जा सकता।

(४) किसी भाषा के लिए सबसे वैज्ञानिक लिपि वह है, जिसमें इस भाषा में प्रयुक्त सभी ध्वनियों के लिए अलग-अलग चिह्न या अक्षर हों। इस दृष्टि से रोमन बहुत पीछे रह जाती है। भारतीय भाषाओं में पचास से ऊपर ध्वनियाँ हैं, जब कि रोमन में केवल २६ अक्षर ही है, और इनमें भी एक्स (x) आदि कुछ ऐसे हैं, जिनको ध्वन्यात्मक दृष्टि से स्वतंत्र अक्षर मानना चित्य है। इस तरह भारतीय भाषाओं को दृष्टि में रखने पर रोमन में मुश्किल से आधे—अर्थात् लगभग २५ अक्षर हैं। २५ रोमन अक्षरों के आधार पर ५०-५५ भारतीय ध्वनियों को व्यक्त करना कितना असुविधाजनक तथा अव्यावहारिक होगा, कहने की आवश्यकता नहीं। इस बात को कुछ और विस्तार से देखा जा सकता है। रोमन की अक्षर-विषयक अपर्याप्तता को क्रमश लिया जा रहा है[1]—

(क) रोमन में कुल ५ स्वर चिह्न हैं : a, e, i, o, u। देवनागरी को भारत की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं का प्रतिनिधि मानें तो कह सकते हैं कि यहाँ मोटे रूप से ११ स्वर है, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ। यह संख्या, दक्षिण भारत के ह्रस्व ओ तथा ह्रस्व ए, और संस्कृत एवं प्राचीन दक्षिणी भाषाओं के ऌ, ॠ आदि को छोड़ कर है। स्पष्टतः रोमन को अपनाने पर ५ अक्षरों से ११ या उससे भी अधिक ध्वनियों को व्यक्त करना पड़ेगा, जो बहुत ही असुविधा-जनक होगा। डाइक्रिटिक मार्क या विशिष्ट चिह्नों के आधार पर इन पांच से आठ-दस को व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु विशिष्ट चिह्नों की बैसाखियों की भी एक सीमा होती है। लिपि में इसकी जितनी कम सहायता ली जाय उतना ही अच्छा। अन्यथा घसीट लिखी भाषा को पढ़ने में बड़ी परेशानी होती है। किसी वर्णमाला के अधिक से अधिक दो-चार अक्षरों को विशिष्ट चिह्नों से युक्त कर सकते हैं। किन्तु यहाँ रोमन के तो सारे के सारे अक्षरों पर विशिष्ट चिह्न लगाने की बात है, क्योंकि स्वर-व्यंजन सब मिला कर २५ अक्षरों के द्वारा ५० से ऊपर ध्वनियों को व्यक्त करना है। ऐसी स्थिति में नागरी को जो इस दृष्टि से पूर्णतः पूर्ण है, छोड़ कर रोमन को अपनाना एक व्यर्थ की परेशानी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। स्वर की दृष्टि से कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी हैं। ऋ, ऌ आदि को व्यक्त करने के लिए रोमन में व्यंजनों की सहायता लेनी पड़ती है। यह भी बहुत

---

१. अंग्रेजी के लिए रोमन लिपि का प्रयोग बहुत दिनों से होता आ रहा है किन्तु अंग्रेज लोग कभी भी इससे सन्तुष्ट नहीं रहे। बर्नर्डशा ने तो इसके विरुद्ध लिखा भी था। अभी हाल में वहाँ रोमन में काफ़ी सुधार करने का सुझाव दिया गया है और २६ अक्षरों के स्थान पर ४३ अक्षरों की रोमन लिपि का सुझाव आया है। हैरो के प्राइमरी स्कूल में प्रायोगिक रूप में इसका प्रयोग भी चल रहा है। सम्भावना इसी बात की है कि जिस रोमन लिपि को भारत में अपनाने की बात की जा रही है वह अपने मूल रूप में इंग्लैण्ड से [illegible] होकर रहेगी इसका मूल कारण यह है कि उसमें पर्याप्त चिह्न नहीं हैं।

वैज्ञानिक नहीं है वैज्ञानिक यही है कि स्वर के लिए स्वर चिह्न प्रयुक्त हैं अन्यथा इससे स्वर के व्यंजन होने का भ्रम उत्पन्न होता है इसी प्रकार अ उ की स्थिति भी विचारणीय है रोमन की सहायता से, जैसा कि प्रचलन चल पड़ा है, अउ और औ दोनों को एक ही प्रकार से (अर्थात् a u) लिखते हैं। हिन्दी की बोली भोजपुरी में एक उदाहरण लेकर इसके द्वारा उत्पन्न अव्यवस्था की ओर संकेत किया जा सकता है। भोजपुरी में कउड़ा और कौड़ा दो शब्द हैं। प्रथम का अर्थ है 'तापने की आग' और दूसरे का अर्थ है 'बड़ी कौड़ी'। देवनागरी में लिखने में कोई परेशानी नहीं है। दोनों को दो प्रकार से लिखेंगे, अतः स्पष्टतः दो प्रकार से पढ़ लेंगे; किन्तु रोमन में दोनों को एक प्रकार से लिखेंगे, अतः पढ़ने वाला बिना पूरा संदर्भ जाने शब्द का ठीक उच्चारण कर ही नहीं सकता। और यदि दुर्भाग्य से शब्द वाक्य में प्रयुक्त नहीं है, अलग रोमन में लिखा गया है तो एक व्यक्ति उसी को 'कौड़ा' पढ़ेगा और दूसरा 'कउड़ा'। अइ और ऐ के सबन्ध में भी ऐसी ही कठिनाई है। रोमन में दोनों को एक ही प्रकार से (ai) लिखते हैं, किन्तु भारतीय भाषाओं और बोलियों में दोनों को दो प्रकार से लिखने की आवश्यकता है। यदि ऐसा नहीं किया जाएगा तो भोजपुरी का गइल (गया) और हिन्दी गैल (रास्ता, गली) दोनों एक हो जाएंगे।

(ख) व्यंजनों में पहले महाप्राण ध्वनियों को ले सकते हैं। अधिकांश भारतीय भाषाओं में ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ आदि महाप्राण ध्वनियां हैं। उर्दू लिपि की भांति ही रोमन में भी इन ध्वनियों के लिए स्वतंत्र अक्षर नहीं हैं। एच् (h) की सहायता से इन ध्वनियों को रोमन में व्यक्त करते हैं। इसमें प्रमुखतः दो कठिनाइयां हैं। पहली बात तो यह है कि एक ध्वनि के लिए दो अक्षरों को मिलाकर प्रयोग (जैसे ख के लिए k h आदि) बहुत वैज्ञानिक नहीं है। वैज्ञानिक लिपि वही है जिसमें हर ध्वनि स्वतंत्र अक्षर द्वारा व्यक्त की जा सके। रोमन इस दृष्टि से बहुत अवैज्ञानिक है। ख, घ, भ आदि सभी महाप्राण व्यंजन इसमें दो अक्षरों के योग से व्यक्त किए जाते हैं।

और दो ही क्यों? छ (chh) में तो तीन अक्षर जोड़ने पड़ते हैं। ऐसे प्रयोगों में व्यर्थ में स्थान तो अधिक घिरता ही है, दो या तीन ध्वनियों के होने का भी भ्रम हो जाता है। दूसरी बात है लिपि की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में। वैज्ञानिक लिपि वही है जिसमें मूल ध्वनियों के साथ संयुक्त ध्वनियों को भी सुविधापूर्वक बिना किसी भ्रम के लिखा जा सके। इस प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि नागरी में क्ह, प्ह और ख, फ, को अलग-अलग व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु रोमन में दोनों के लिए kh, ph ही लिखेंगे। कहना न होगा कि वैज्ञानिक दृष्टि से क्ह ख या प्ह, फ एक नहीं है। यह बात दूसरी है कि भारतीय भाषाओं में इस प्रकार की संयुक्तता प्रायः नहीं है। इस तरह महाप्राण व्यंजनों की दृष्टि से तो रोमन भारतीय भाषाओं के लिए बिल्कुल ही दोषपूर्ण है।

(ग) व्यंजनों में महाप्राण के बाद ङ, ञ, त, द, ड़, श, ष, ळ आदि उन अन्य ध्वनियों को लिया जा सकता है, जो भारतीय भाषाओं में आवश्यक हैं, और जिनके लिए देवनागरी आदि में अक्षर हैं, किन्तु रोमन में नहीं हैं। इनको यदि रोमन में व्यक्त करना चाहें तो विशिष्ट चिह्न लगाने पड़ेंगे, किन्तु यहाँ फिर वही प्रश्न उठेगा, जिसके संबन्ध में ऊपर कहा जा चुका है। अर्थात् विशिष्ट चिह्नों की बैसाखी से पंगु व्यक्ति कितना चल सकता है? साथ ही यदि विशिष्ट चिह्न लगाये भी तो कई अक्षरों के सबन्ध में अन्य प्रकार की कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं

हिन्दी ड़ के लिए कुछ लोग ṛ तथा कुछ लोग ḍ लिखते हैं किन्तु इन्हीं ṛ और ḍ का प्रयोग क्रमशः ऋ और ड के लिए भी चलता है। इसी प्रकार रोमन l के नीचे विन्दु देकर ḷ करते हैं इसका प्रयोग भी लृ और ळ दोनों के लिए चलता है। यों अन्य प्रकार के चिह्न लगा कर यह गड़बड़ी किसी सीमा तक दूर की जा सकती है, किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, अतिरिक्त चिह्न जितने ही अधिक बढ़ेंगे, व्यवहारतः लिपि उतनी ही असुविधाजनक होती जाएगी।

इस प्रकार रोमन लिपि, विदेशी, कई दृष्टियों से भ्रामक एवं अवैज्ञानिक, हमारी ध्वनीय आवश्यकताओं की दृष्टि से अपर्याप्त, एवं देवनागरी आदि भारतीय लिपियों की तुलना में भारत में अल्प प्रचलित होने के कारण राष्ट्रलिपि के रूप में ग्राह्य होने के सर्वथा अयोग्य है।

देवनागरी लिपि क्यों राष्ट्रलिपि हो सकती है?

(१) देवनागरी लिपि रोमन की भाँति विदेशी लिपि नहीं है, अपितु पूर्णतः भारतीय है। इसकी उत्पत्ति और इसका विकास दोनों ही भारत-भूमि में हुआ है, इस प्रकार इसकी जड़ें देश के इतिहास और संस्कृति में हैं।

(२) भारत में जितनी भी लिपियाँ प्रचलित हैं, उनमें, देवनागरी लिपि को जानने वालों की संख्या सर्वाधिक है। रोमन के जानने वाले ३% से भी कम होंगे। बँगला, गुरुमुखी, उड़िया, तमिल, तेलुगु आदि अन्य लिपियों को जानने वाले भी ५% से लगभग ८% के बीच में हैं, किन्तु देवनागरी जानने वालों की संख्या १५% से भी ऊपर है। इस अधिकता के प्रमुख कारण ये हैं: —

(क) देवनागरी लिपि पूरे हिन्दी प्रदेश में प्रयुक्त होती है, और हिन्दीभाषी जनता भारत में हिन्दीतर भाषा-भाषी जनता से अधिक है।

(ख) हिन्दी के अतिरिक्त मराठी भाषा की लिपि भी यही है, अतः वहाँ के लोगों में भी इसी का प्रचार है।

(ग) ऐसे लोगों में भी जो कि हिन्दी और मराठी नहीं जानते, ऐसे लोगों की संख्या पर्याप्त है, जो या तो धार्मिक दृष्टि से संस्कृत, पालि, अर्धमागधी आदि से न्यूनाधिक रूप से परिचित है, अतः देवनागरी लिपि से भी अपरिचित नहीं है, क्योंकि इनके ग्रंथ प्रायः देवनागरी में ही छपे हैं, या फिर अपने प्राचीन साहित्य, संस्कृति या दर्शन आदि के अध्ययन के लिए जिन्होंने संस्कृत, पालि, प्राकृत या अपभ्रंश आदि का अध्ययन किया है और इस प्रकार देवनागरी लिपि से पूर्णतः परिचित हैं। प्रमुखतः दक्षिण भारत में तथा बंगाल में ये बातें बहुत अधिक हैं। इस प्रकार हिन्दी और मराठी जनता के अतिरिक्त, अन्य शिक्षित भारतीयों का भी एक अच्छा प्रतिशत धर्म, दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास, साहित्य आदि में रुचि रखने के कारण देवनागरी लिपि से पूर्णतः अपरिचित नहीं कहा जा सकता।

(३) जैसा कि आगे हम देखेंगे, भारत की सभी लिपियाँ प्राचीन भारतीय लिपि ब्राह्मी से निकली होने के कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साम्य रखती हैं। देवनागरी लिपि मध्यदेशीय लिपि होने के कारण ब्राह्मी की सीधी परंपरा में है, साथ ही रूपात्मक दृष्टि से भी बीच में पड़ती है इस तरह अन्यों की तुलना में अन्य सभी लिपियों से अधिक निकट है। इसी कारण गुजराती बंगाली आदि लिपियों को जानने वाले तो बिना जाने मात्र से ही

नागरी के काफी अक्षरों को पहचान सकते हैं इसका आशय यह भी हुआ कि अन्य भारतीय लिपियों की तुलना में लोग इसे अपेक्षाकृत अधिक सरलता से सीख सकते हैं।

(४) यों तो सभी लिपियाँ अपने जानने वालों के लिए सरल होती है, किन्तु यदि वह बात छोड़ दी जाए, तो यह कहा जा सकता है कि देवनागरी पर्याप्त सरल है। इसमें दक्षिण भारत तथा उड़िया आदि की लिपियों की भाँति जटिल अक्षर प्रायः नहीं हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी विदेशी को तमिल, मलयालम, कन्नड़, तेलुगु, उड़िया लिपि के साथ देवनागरी लिपि सिखलाई जाय, तो वह देवनागरी, अपेक्षाकृत कम समय में सीख लेगा। यह बात अनुमान पर नहीं कही जा रही है। इन पंक्तियों के लेखक ने एक फ्रान्सीसी, एक कबोडियन तथा एक अमेरिकन से अलग-अलग इस सम्बन्ध में प्रयोग करवाए और निष्कर्ष इस प्रकार निकला---(क) देवनागरी लिपि तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम और उड़िया लिपि से सरल है और कम समय में सीखी जा सकती है; (ख) देवनागरी, बंगाली और गुरुमुखी लिपियाँ इस दृष्टि से लगभग समान है; (ग) गुजराती और उर्दू सबसे सरल हैं।

(५) भारत के बाहर नेपाल की लिपि भी देवनागरी ही है।

(६) संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के अध्ययन का मूलाधार होने के कारण भारत की प्रतिनिधि या प्रमुख लिपि के रूप में विश्व के सभी कोनों में कुछ न कुछ लोग देवनागरी को जानते हैं। प्रमुखतः भाषा विज्ञान, दर्शन, प्राचीन इतिहास, भारतीय पुरातत्व एवं संस्कृति आदि क्षेत्रों के विद्वानों एवं कार्यकर्ताओं में यह पूर्ण प्रचलित है।

(७) वैज्ञानिक लिपि में, जिस भाषा के लिए वह प्रयुक्त हो, उसकी सभी आवश्यक ध्वनियों के लिए अलग-अलग चिह्न होने चाहिए। भारत में प्रचलित लिपियों में इस दृष्टि से सबसे अपूर्ण लिपि रोमन तथा उर्दू है। तमिल में भी स्थिति लगभग यही है। क्योंकि उसमें कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग में देवनागरी आदि की तरह ५-५ अक्षर न होकर मात्र २-२ है। देवनागरी में इस प्रकार की अपूर्णताएँ नहीं हैं, और जैसा कि हम आगे देखेंगे कुछ ही नए अक्षरों के जोड़ देने पर यह सभी भारतीय भाषाओं को सरलता से लिख सकती है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि भारत की ही नहीं विश्व की कोई भी लिपि ऐसी नहीं है जो बिना परिवर्द्धन के भारत की सभी भाषाओं में स्पष्टतापूर्वक लिख सके। थोड़ा-बहुत परिवर्द्धन सभी में आवश्यक है। देवनागरी में जो परिवर्द्धन अपेक्षित है, वह विश्व की किसी भी लिपि से अधिक नहीं है। इस प्रकार इस दृष्टि से भी देवनागरी, राष्ट्रलिपि होने के सर्वथा उपयुक्त है।

भारतीय लिपियों का आपसी सम्बन्ध

इस प्रसंग में संक्षेप में हमारी लिपियों का सम्बन्ध भी द्रष्टव्य है। इस आधार पर पीछे कुछ बातें कही जा चुकी हैं। भारत की प्राचीनतम लिपि सिंधु घाटी की लिपि है। उसके प्रायः तीन-साढ़े तीन हजार वर्ष बाद ब्राह्मी लिपि का प्रयोग मिलता है। ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति अनेक विदेशी विद्वानों ने विदेशी लिपियों से मानी है। उदाहरणार्थ- कुपेरी के अनुसार यह चीनी लिपि से प्रिंसप और सेनाट के अनुसार यूनानी लिपि से और बबर आदि के अनुसार लिपि से

उत्पन्न है। किन्तु जैसा कि अन्यत्र दिखलाया जा चुका है, ये मत सत्य से बहुत दूर हैं।[1] प्रश्न यह उठता है कि फिर ब्राह्मी लिपि आई कहाँ से ? इस प्रश्न को लेकर एडवर्ड थामस, डॉ० राजबली पाडेय, श्री आर० शाम शास्त्री, जगमोहन वर्मा तथा डाउसन आदि ने सविस्तार विचार किया है, किन्तु कोई बहुमान्य एवं निश्चित मत सामने नहीं आ सका है। इसी कारण डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का यह कथन ही प्राय: प्रामाणिक माना जाता रहा है—"जितने प्रमाण मिले है, चाहे प्राचीन शिलालेख के अक्षरों की शैली और चाहे साहित्य के उल्लेख, सभी यह दिखाते है कि लेखनकला अपनी प्रौढ़ावस्था में थी . . . उसके आरंभिक विकास का पता नहीं चलता।"[2]

मुझे ऐसा लगता है कि सिंधु घाटी की लिपि से इस लिपि का संबंध है। आज से ५ वर्ष पूर्व १९५६ ई० में, इन पक्तियों के लेखक ने सिंधु घाटी की लिपि के साथ ब्राह्मी का तुलनात्मक अध्ययन किया था और निष्कर्षत: यह मत व्यक्त किया था कि ब्राह्मी लिपि सिंधु घाटी की लिपि से निकली है। साथ में दोनों लिपियों में से कुछ समान लिपि-चिह्नों का प्रथम बार एक चार्ट भी प्रस्तुत किया था।[3] तब से कई लेखकों ने लिपि पर लिखते हुए अपनी पुस्तकों तथा लेखो में इस मत तथा चार्ट को ससंदर्भ या असंदर्भ, दोनों ही रूपों में उद्धृत किया, जिससे ऐसा अनुमान लगता है कि इसे कुछ मान्यता मिली है। वस्तुत: इस दिशा मे अभी और कार्य अपेक्षित है।

इस प्रकार सभावना यही है कि भारतीय लिपियों का मूल सिधु घाटी की लिपि मे है, और यह लिपि अपने मूल में कदाचित् चित्र लिपि थी। सिंधु-सभ्यता के काल से लेकर ५वीं सदी ई० पू० तक का काल प्राय: अंधकार में है। इसी अंधकार युग के कारण सिंधु और ब्राह्मी के अधिकांश लिपि-चिह्नों को एक दूसरे से संबद्ध करना संभव नही हो रहा है। ५वीं सदी ई० पू० मे ब्राह्मी के शिलालेख मिलते हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि इस लिपि का आरंभ बहुत पहले हो चुका था। इस प्रकार ब्राह्मी के प्रारंभ-काल के संबंध में सनिश्चय कहना कुछ कठिन है, किंतु इसकी उत्तर सीमा स्पष्टत: ३५० ई० है। इसके बाद इसकी दो शैलियाँ हो गईं—उत्तरी शैली और दक्षिणी शैली। दक्षिणी शैली से तमिल, कन्नड़, ग्रंथ, कलिंग, वट्टेलुत्तु आदि का विकास हुआ। उत्तरी शैली से गुप्त (४-५ वीं सदी), कुटिल (६-८वीं सदी), प्राचीन देवनागरी (८-१५ वी), नागरी (१६ वीं—) तथा शारदा, टाकरी, डोग्री, गुरुमुखी, गुजराती, कैथी, बंगला, मैथिली तथा उड़िया आदि विकसित हुईं। इस प्रकार मूलत: सभी भारतीय लिपियाँ (उर्दू और रोमन को छोड़ कर) आपस में संबद्ध हैं, और इसी कारण उनमें आंतरिक समानता है।

राष्ट्रलिपि की दृष्टि से देवनागरी में अपेक्षित परिवर्द्धन

ऊपर हम देख चुके हैं कि अन्य भारतीय लिपियों की तुलना में देवनागरी राष्ट्रलिपि होने

---

१. भाषा विज्ञान, भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण, पृ० ४९५-८

२ भारतीय प्राचीन लिपिमाला, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, तीसर संस्करण, पृ० २०

३ भाषा विज्ञान भोलानाथ तिवारी, इलाहाबाद दूसरा सस्करण पृ० ३५५

के अधिक उपयुक्त है किन्तु इसे ज्यों-की-त्यों राष्ट्रलिपि नहीं बनाया जा सकता। इस दृष्टि से इसके समक्ष प्रमुख समस्याएं दो हैं। एक तो यह कि, कुछ भारतीय भाषाओं में कुछ ऐसी ध्वनियाँ हैं, जिनके लिए देवनागरी में लिपि-चिह्न या अक्षर नहीं हैं, अतः उनके लिए नए अक्षरों के बनाने की आवश्यकता है, और दूसरी यह कि इसमें कुछ अवैज्ञानिकताएँ या कमियाँ हैं, जिनकी दृष्टि से इसमें सुधार अपेक्षित हैं। यहाँ क्रम से दोनों को लिया जा रहा है।

राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी में सभी भाषाओं की ध्वनियों के अंकन की शक्ति होनी चाहिए। यहाँ सिद्धांत की दृष्टि से कुछ बातें विचारणीय हैं। भाषाओं का प्रतिलेखन (Transcription) दो प्रकार का होता है—(क) स्थूल या सामान्य प्रतिलेखन (Broad Transcription) तथा (ख) सूक्ष्म या विशिष्ट प्रतिलेखन (Narrow Transcription)। स्थूल में, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, ध्वनियों का अंकन स्थूल रूप से करते हैं, अर्थात् इसमें प्राय ध्वनिग्राम (Phoneme) का ही अंकन होता है, संध्वनियों (Allophones) का नहीं। दैनिक कार्य या सामान्य व्यावहारिक लेखन के लिए यही पद्धति उचित मानी जाती है। सूक्ष्म प्रतिलेखन भाषा-उच्चारण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का अंकन करता है। अर्थात् उसमें संध्वनियों तथा बलाघात आदि के अंकन का पूरा ध्यान रखा जाता है। कहना न होगा कि राष्ट्रलिपि के प्रसंग में हमारा ध्यान प्रमुखतः स्थूल प्रतिलेखन पर होगा, क्योंकि सूक्ष्म प्रतिलेखन की आवश्यकता लिपि के सर्वसामान्य प्रयोक्ता को नहीं होती। स्थूल प्रतिलेखन में यह आवश्यक नहीं है कि हमारा ध्यान उन सारी ध्वनियों की ओर जाय, जिनका भाषा-विशेष में प्रयोग हो रहा है। हाँ, हमारा ध्यान उन सारे लिपि-चिह्नों या अक्षरों पर अवश्य जाना चाहिए, जिनका उस भाषा-विशेष में प्रयोग हो रहा है। अर्थात् जिस भारतीय भाषा के लेखन में जिन-जिन अक्षरों का प्रयोग हो रहा है, उन सारे अक्षरों के लिए देवनागरी लिपि में अक्षर या लिपि-चिह्न अपेक्षित है। इस समय व्यावहारिक आवश्यकता यही है। भाषावैज्ञानिक सूक्ष्मता के आधार पर किसी भाषा की हर ध्वनि के लिए देवनागरी में अक्षरों को बढ़ाना, समस्या को और उलझा देगा। उदाहरणार्थ, हमें पता है कि तेलुगु में दो प्रकार के 'च' हैं। किंतु इसके लिए इस समय देवनागरी लिपि में हमें एक और 'च' बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। हम जानते हैं कि तेलुगु लिपि में एक ही अक्षर दोनों च को प्रकट करता है, अतः देवनागरी में भी एक ही चिह्न दोनों के लिए पर्याप्त समझा जाना चाहिए। यदि 'च' के लिए दो अक्षर रखे जायँ, तो भाषाविज्ञानवेत्ता या बहुशिक्षित तो उनका प्रयोग सरलता से कर लेगा, किंतु सामान्य जनता के लिए एक समस्या खड़ी हो जायेगी और उसके लिए यह जानना बहुत कठिन होगा कि कहाँ एक अक्षर का प्रयोग करें और कहाँ दूसरे का। उस बेचारे को क्या पता कि कौन 'च' दंत्य है और कौन तालव्य है? इसी कठिनाई की दृष्टि से इस प्रसंग में वास्तविक उच्चारण-स्थान तथा प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों के भेदों-विभेदों पर ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि हर भाषा में प्रयुक्त अक्षरों या लिपि-चिह्नों का, जिनका कि सर्वसामान्य लोग प्रयोग करते हैं, क्योंकि राष्ट्रलिपि भाषाविज्ञानविदों के लिए नहीं अपितु सामान्य लोगों के लिए है। हाँ भाषाविज्ञानविद यदि इसे अपने लिए प्रयुक्त करना चाहें तो जैसे रोमन के आधार पर अनेक प्रकार की क

लिपियाँ विश्व में बनी हैं, उसी प्रकार विशिष्ट चिह्नों के आधार पर देवनागरी लिपि को भी ध्वन्यात्मक लिपि (Phonetic Script) का रूप दे सकते हैं।[१]

यहाँ अलग-अलग भाषाओं को लेकर उनके लिए अपेक्षित अतिरिक्त लिपि-चिह्नों या अक्षरों की दृष्टि से विचार किया जा रहा है।

मलयालम

मलयालम भाषा के लेखन में मलयालम या केरल लिपि का प्रयोग होता है। देवनागरी से तुलना करने पर यों तो मलयालम वर्णमाला में प्रमुखतः कुल ९-१० नए अक्षर मिलते हैं, किंतु सामान्य प्रयोग में ये सभी प्रचलित नहीं है। मलयालम भाषियों तथा दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के अधिकारियों से बात करने पर,मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ह्रस्व ए, ह्रस्व ओ, विशेष प्रकार का तेज़ र, प्रतिवेष्ठित मूर्द्धन्य र, तथा इस र के द्वित्त उच्चारण की दंतमूलीय 'ट' जैसी ध्वनि, ये पाँच ध्वनियाँ या अक्षर मलयालम लिपि में ऐसे हैं, जिनके लिए देवनागरी लिपि में यदि अक्षर बना लिए जायँ, तो मलयालम भाषा को देवनागरी लिपि मे लिखने में कोई कठिनाई न होगी। यहाँ मैंने 'ळ' का उल्लेख नहीं किया है। यह ध्वनि यद्यपि हिन्दी भाषा में प्रयुक्त देवनागरी लिपि मे नहीं है, किंतु मराठी में प्रयुक्त देवनागरी लिपि मे है। ऐसी स्थिति में यह भी देवनागरी का ही एक अक्षर है और इसे नवस्वीकृत चिह्नों में नहीं रखा जा सकता। उपर्युक्त नए अक्षरों के संबंध में विभिन्न व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के सुझाव दिए गए हैं। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ने ह्रस्व ए के लिए ॆ रक्खा है तो ह्रस्व ओ के लिए 'ॉ' 'ॉ' मे कठिनाई यह है कि हिन्दी में वृत्तमुखी ओ के लिए इसका प्रयोग चल रहा है, जैसे कॉलिज, ऑफ़िस आदि। इसी प्रकार तेज 'र' के लिए नरवणे आदि कुछ लोगों ने 'र्र' का प्रयोग किया है, किंतु देवनागरी लिपि में यह स्पष्ट ही दो र है, जैसे 'हुर्र'। मलयालम आदि में यह र द्वित्त न होकर दंतमूलीय लुंठित है, अतः इसे 'र्र' लिखने में भ्रम की संभावना है। ऐसी स्थिति में इसे स्वीकार्य नहीं माना जा सकता। सभी दृष्टियों से विचार करने पर उपर्युक्त मलयालम अक्षरों के लिए क्रमशः निम्नांकित अक्षर नागरी में स्वीकार किए जा सकते हैं:—

ऍ (कॆ), ऒ (कॊ), ऱ, ऴ,[२] ट़

तमिल

इसकी वर्णमाला में नागरी की तुलना में यों तो काफी अक्षर कम हैं, किंतु कुछ अक्षर ऐसे भी हैं जो नागरी में नहीं हैं। ऐसे अक्षरों की संख्या चार है। इनमें एक वर्ण 'न' के लिए ह।

---

१. देवनागरी लिपि के आधार पर ध्वन्यात्मक लिपि बनाने के प्रयास किए जा चुके है। देखिए, 'भाषाविज्ञान', भोलानाथ तिवारी, तीसरा संस्करण, पृ० ४२०-२१। इस दिशा मे डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया के नाम उल्लेखनीय हैं।

२. इसे कुछ लोग ष भी लिख रहे हैं। सुनने में यह ध्वनि ष की अपेक्षा ळ के निकट है, अत इसे ऴ रूप में लिखना अधिक उचित है।

इस प्रकार तमिल वर्णमाला में न के लिए दो चिह्न हैं दोनों के उच्चारण में अब कोई भेद नहीं है यद्यपि प्राचीन काल में रहा होगा व्याकरण के प्राचीन नियमों के अनुसार कुछ स्थानों पर एक चिह्न का तथा कुछ पर दूसरे का प्रयोग होता है। आधुनिक प्रवृत्ति अल्प प्रचलित ऩ (जैसे मनुरम=इमारत का न) के स्थान पर अधिक प्रचलित 'न' लिखने की है, इस प्रकार अब एक 'न' चिह्न पर्याप्त माना जा रहा है। यदि तमिल भाषी उसे आवश्यक मानें तो 'न' और 'ऩ' रूप में दो न नागरी में रक्खे जा सकते हैं। शेष तीन अक्षर वे ही हैं, जिनका ऊपर मलयालम में वर्णन किया जा चुका है, अर्थात् ऍ, ऑ, ऴ। इस प्रकार नागरी में इन्हें स्वीकार कर लेने पर तमिल को सरलता से नागरी में लिखा जा सकता है।

तेलुगु

तेलुगु की पूर्ण वर्णमाला में नागरी की तुलना में यों तो कुल लगभग ६ लिपि-चिह्न ऐसे हैं जिनके लिए देवनागरी में अक्षर नहीं हैं, किन्तु ये सभी आज प्रयोग में नहीं हैं। प्रयोग की दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण हैं उनके लिए मलयालम आदि की भाँति ही ऍ, ऑ, ऱ चिह्न देवनागरी में प्रयुक्त किए जा सकते हैं। उच्चारण में, मराठी की भाँति ही, तेलुगु में भी च, ज दो-दो प्रकार के हैं। एक तालव्य और दूसरा दंत्यमूलीय। किंतु लिखने में इनके लिए एक ही लिपि-चिह्न का प्रयोग होता है। इसी लिए नागरी में भी इनके लिए स्वतंत्र चिह्न अपेक्षित नहीं है। (यों करना ही हो तो च च़, ज ज़ प्रयोग में आ सकते हैं। ज़ के स्थान पर कुछ लोगों ने ज़ के प्रयोग का सुझाव दिया है, जो भ्रमोत्पादक है। हिंदी में 'ज़' वत्स्य संघर्षी ध्वनि का द्योतन करता है, जब कि मराठी, तेलुगु आदि का ज दन्त्यमूलीय स्पर्श-संघर्षी है, इस प्रकार यह 'ज़' से अलग है) तेलुगु में च और छ तथा ज झ के बीच दो और अक्षर प्राचीन काल में थे, किंतु अब वे प्रायः लुप्त हो गए हैं, अतः उनके लिए अक्षर अनपेक्षित हैं।

कन्नड़

कन्नड़ वर्णमाला के द्योतन के लिए देवनागरी में ऍ, ऑ को सम्मिलित कर लेना पर्याप्त है। प्राचीन कन्नड़ में तीन अन्य अक्षर भी थे जो 'र', और 'ल' से उच्चारण में मिलते-जुलते थे। अब वे प्रयुक्त नहीं होते, अतः उनके लिए देवनागरी में परिवर्द्धन की आवश्यकता नहीं है।

मराठी

मराठी की लिपि जैसा कि संकेत किया जा चुका है, देवनागरी ही है। उत्तर भारत में प्रचलित देवनागरी की तुलना में इसमें 'ळ' चिह्न अधिक है। उच्चारण की दृष्टि से मराठी में च, छ, ज, झ, ये चारों ही ध्वनियाँ दो-दो प्रकार की हैं। एक तो तालव्य और दूसरी दंतमूलीय। मराठी लोग इन दोनों ही के लिए एक ही प्रकार के चिह्न प्रयुक्त करते हैं। अभ्यास के कारण मराठी-भाषी सहज ही दोनों के अलग-अलग उच्चारण कर लेता है। ऐसी स्थिति में व्यावहारिक मराठी के लिए इनके लिए अलग-अलग चिह्न व्यर्थ हैं। (यों यदि अलग करना चाहें ही तो च, छ ज-झ मान सकते हैं। ज के नीचे बिंदु न रख कर रेखा रखने का कारण यह है कि 'ज़' हिन्दी की नागरी में वत्स्य-संघर्षी ध्वनि है, जब कि मराठी का विशिष्ट ज दंतमूलीय स्पर्श संघर्षी है

जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, ऐसी स्थिति में दोनों ही के लिए एक लिपि-चिह्न 'ज्ञ' का प्रयोग भ्रामक होगा।)

हिन्दी

हिन्दी की लिपि भी देवनागरी ही है। यों हिन्दी में ध्वन्यात्मक दृष्टि से १९ स्वर तथा दो व है, किंतु व्यावहारिक लिपि में इन सूक्ष्मताओं को लाने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार हिन्दी ध्वनियों की दृष्टि से नागरी में कुछ परिवर्द्धन करने की आवश्यकता नहीं है।

गुजराती

गुजराती लिपि देवनागरी की ही तरह है। केवल शिरोरेखा नहीं है। गुजराती को नागरी में लिखने में किसी भी अतिरिक्त अक्षर की आवश्यकता नहीं है।

पंजाबी

पंजाबी की गुरुमुखी लिपि में नागरी की तुलना में अतिरिक्त चिह्न नहीं हैं, अतः उसे भी नागरी लिपि में लिखने में कोई कठिनाई नहीं है। ध्वनि की दृष्टि से शब्दारंभ में पंजाबी के घ, झ, ढ, ध, भ, कुछ विचित्र रूप में उच्चरित होते हैं। डॉ० चटर्जी का कहना है कि ये महाप्राण सघोष व्यंजन पंजाबी में अल्पप्राण अघोष अर्थात् क, च, ट, त, प हो जाते है, किंतु वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। इनकी ध्वनि कुछ विचित्र सी अल्पप्राण अघोष और 'ह' से युक्त होती है; जैसे 'भोली' का 'प्-होली'। किंतु लिखने में इनके लिए सामान्य घ, झ, ढ, ध, भ का ही प्रयोग होता है, अतः नागरी में भी इन्हीं अक्षरों का प्रयोग किया जा सकता है।

बंगाली

बंगाली लिपि में नागरी की तुलना में कोई अतिरिक्त अक्षर नहीं हैं, अतः बंगाली के लिए भी नागरी में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

उड़िया

उड़िया वर्णमाला के सभी अक्षर नागरी में हैं, उड़िया में ज-जैसे उच्चारण का 'य'-जैसा एक अतिरिक्त अक्षर भी कभी प्रयुक्त होता था, किंतु अब वह प्रयोग में नहीं है। अतः उड़िया के लिए भी देवनागरी में किसी अतिरिक्त अक्षर की आवश्यकता नहीं है।

असमिया

असमिया भाषा की लिपि बंगाली ही है। इसके उच्चारण की कुछ अपनी विशेषताएँ अवश्य हैं, जैसे एक विशेष प्रकार 'ह' जो ख जैसा सुनाई पड़ता है तथा च, छ का कहीं-कहीं 'स' जैसा उच्चारण आदि। किंतु, लिखने में उनके लिए कोई विशिष्ट अक्षर नहीं हैं, अतः नागरी में इसे भी सरलतापूर्वक लिखा जा सकता है।

उर्दू

उर्दू लिपि अरबी-फ़ारसी लिपि में भारतीय ध्वनियों की आवश्यकताओं के अनुरूप ट डाल ड आदि परिवर्द्धन करके विकसित की गई है प्राचीन नागरी की तुलना मे इसमे

से, हे, खे, ज़ाल, ज़े, झ़े, स्वाद, ज़्वाद, तोय, ज़ोय, ऐन, ग़ैन, फ़े, क़ाफ़ ध्वनियाँ अधिक थीं। किंतु हिन्दी भाषा में प्रयुक्त नागरी लिपि में उर्दू शब्दों के ठीक उच्चारण के लिए ख़, ज़, ग़, फ़, क़ ध्वनि-चिह्न आधुनिक काल में जोड़ दिए गए। शेष में 'से' का उच्चारण अब 'सीन' या हिन्दी 'स' से भिन्न नहीं होता। इसी प्रकार ज़ाल, जे, झ़, ज़्वाद, ज़ोय भी प्राय: 'ज़' की भाँति ही उच्चरित होते है। इसी प्रकार 'तोय' ते या 'त' तथा ग़ैन अ है। निष्कर्षत: यदि हिन्दी में प्रयुक्त नागरी को दृष्टि में रखें तो उर्दू को लिखने के लिए नागरी मे किसी अतिरिक्त चिह्न की आवश्यकता नहीं है। उर्दू वाले यदि अपने विशिष्ट अक्षरों के लिए भी नागरी में विशिष्ट चिह्न चाहें ही तो से–स़, हे–ह़, जाल-ज़, ज़े-ज़, झे–झ़, ज्वाद-ज़ु, ज़ोय-ज़ु, स्वाद–स़, तोय–त़, ऐन-अ़ रूप में व्यक्त किए जा सकते हैं, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह अनावश्यक है।

कश्मीरी

'ऑफ़िशल लैंग्विज कमीशन' की रिपोर्ट में कश्मीरी की लिपि 'शारदा' कही गई है। पहले बात ऐसी अवश्य थी, किंतु अब शारदा का प्रयोग केवल कुछ ब्राह्मणों आदि में ही है। अन्य लोग कश्मीरी को अरबी-फ़ारसी लिपि में लिखते है जो उर्दू से बहुत भिन्न नहीं है। आज जिस रूप में कश्मीरी लिखी जाती है, उस रूप में बिना किसी कठिनाई के इसे नागरी लिपि में भी लिखा जा सकता है। यों कश्मीरी में अ, आ, उ, ऊ आदि स्वरों के एकाधिक रूप हैं, तथा व्यंजनों में मराठी की तरह दंतमूलीय च ज आदि भी हैं, किंतु सामान्य लेखन में उनका ध्यान नहीं रखा जाता। अतः इनके लिए भी देवनागरी में किसी अतिरिक्त अक्षर की आवश्यकता नहीं है।

सिंधी

सिंधी लिपि अरबी-फ़ारसी लिपि पर आधारित है। इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अंतर्मुखी (Implosive) ध्वनियां भी होती हैं।[1] इनके उच्चारण के समय स्वर-यंत्र को नीचे कर देने के कारण ध्वनि भीतर जाकर बाहर आती हुई सुनाई पड़ती है। सिंधी में ग, ज, ड, द, ब पाँच अंतर्मुखी व्यंजन हैं। भाषाविज्ञान में इनके लिए उलटे कॉमे (ग') का प्रयोग किया जाता है। सामान्यत: लिखने में यों तो इन ध्वनियों के लिए अलग चिह्न अपेक्षित नहीं है, किंतु कुछ लोग अरबी-फ़ारसी लिपि में नीचे दो बिंदु रख कर इन्हें प्रकट करते हैं। नागरी में भी यदि इन्हें अलग लिखना हो तो बिंदु या कॉमे से काम चलाया जा सकता है। किंतु व्यावहारिक लिपि में मराठी-तेलुगु के च, ज आदि की भाँति इसे भी सामान्य अक्षरों से ही लिखना उचित है। ऐसी स्थिति में इनके लिए नागरी लिपि में किसी अतिरिक्त अक्षर की आवश्यकता न होगी।

---

१. अरबी-फ़ारसी लिपि के आधार पर बनी सिंधी लिपि (जो वहाँ अखबारों तथा स्कूलों आदि में चलती रही है) में भी इन सभी विशिष्ट (implosive) ध्वनियों के लिए चिह्न नहीं हैं ग चाहे हो या विशिष्ट उसके लिए गाफ़ (گ) का ही प्रयोग चलता रहा है

ऊपर विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त लिपियों को लेकर नागरी वर्णमाला में नए अक्षरो की आवश्यकता पर विचार किया गया। हमने देखा कि सर्वसामान्य प्रयोग की दृष्टि से देवनागरी लिपि को यदि राष्ट्रलिपि बनाना चाहें तो उसमें केवल पाँच नए अक्षर जोड़ने पड़ेंगे—

एँ, ओँ, ळ, ऱ, ट

इनके जोड़ देने पर देवनागरी लिपि सभी भारतीय भाषाओं को कम से कम उतनी सरलता, सुबोधता एवं स्पष्टता के साथ लिख सकती है, जितनी सरलता, सुबोधता एवं स्पष्टता के साथ भाषाएँ अपनी-अपनी लिपियों में लिखी जाती हैं। यही नहीं, तमिल, उर्दू आदि कुछ भाषाओं के लिए तो यह लिपि उनकी मूल लिपि से भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। निष्कर्षत राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी में निम्नांकित अक्षर हो सकते हैं:—

स्वर—अ, आ, ऑ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ऍ, ए, ऐ, ऑ, ओ, औ।

व्यंजन—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, ळ, व, श, ष, स, ह, क़, ख़, ग़, ज़, ट़, ड़, ढ़, फ़, ऱ, ऴ, ं, :।

दूसरी समस्या सुधार की है। नागरी लिपि में सुधार पर कई दशकों से विचार किया जा रहा है। इस दिशा में अनेक संस्थाओं, व्यक्तियों, तथा प्रांतीय सरकारों ने काम किया है। उत्तर प्रदेश में सुधरी हुई लिपि का कुछ दिन तक कुछ कक्षाओं मे प्रयोग भी हुआ था, किंतु बाद मे बद कर दिया गया। वस्तुतः यह समस्या ऐसी नहीं है, जिसकी ओर ध्यान न देने से हमारा काम चल जाय। यह ठीक है कि विश्व की कोई भी लिपि पूर्ण वैज्ञानिक नहीं है, किंतु मात्र यह कह देना ही पर्याप्त नहीं है। लिपियों को यथासाध्य वैज्ञानिक रूप दे देना प्रयोक्ताओं के लिए सुविधा-जनक ही होता है, अतः उस दिशा में कार्य होना चाहिए। यहाँ इस विषय के पूरे विस्तार मे तो हम नही जा सकते, क्योंकि यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है, हाँ अत्यंत संक्षेप रूप मे नागरी की प्रमुख कमियों एवं उन्हें दूर करने के उपायों का संकेत किया जा सकता है।

(क) नागरी लिपि में सबसे अधिक अवैज्ञानिकता इ (ि) के मात्रा में है। इसे वहाँ नहीं लिखा जाता, जहाँ इसका उच्चारण किया जाता है। उदाहरणार्थ 'चन्द्रिका' शब्द लें। इसमे उच्चारण के अनुसार 'ि' क के पूर्व है (Chandrika) किंतु लिखने में वह न् के पूर्व है। इसके लिए दो सुझाव बहुत पहले मे आ चुके हैं। एक तो दीर्घ ई से ह्रस्व इ की मात्रा छोटी रखने का, अर्थात् ई=ी (की), इ=ी (की=कि)। दूसरा है इ की मात्रा को पीछे की ओर और ई की मात्रा को आगे की ओर मोड़ने का। उदाहरणार्थ की=कि, तथा की=की। घसीट कर लिखने मे प्रथम सुझाव के अनुसार रेखा के छोटी-बड़ी होने में, भ्रम की संभावना है, अतः दूसरा सुझाव अधिक अच्छा है। इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई भी नहीं है, साथ ही भ्रम की भी सभ।वना नहीं है।

(ख) ख में प्रायः र व का या र व में ख का भ्रम हो जाता है। इसके लिए उत्तर प्रान्तीय द्वारा गया रूप सर्वोत्तम है अर्थात र व को तो र व लिखा जाय किंतु स को ख लिखा जाय।

(ग) र के देवनागरी में र,/,˛, ^ चार रूप हैं। वस्तुतः केवल एक रूप 'र' का ही रक्खा जाना चाहिए और शेष को छोड़ देना चाहिए। इसी के आधार पर संयुक्त रूप भी बनाए जा सकते हैं। जैसे क्र=क्र, द्र=द्र, र्म=र्म आदि।

(घ) कुछ अक्षरों के दो रूप प्रचलित हैं। जैसे अ-अ, ल-ल, ण, ण, श-श आदि। इन युग्मों में एक-एक, जो सरल हों स्वीकार किए जा सकते हैं और दूसरे को छोड़ा जा सकता है।

इस प्रसंग में एक अन्य बात भी उल्लेख्य है। शीघ्र लिखने की दृष्टि से अक्षरों को शिरोरेखा-विहीन रूप में प्रयुक्त करना अधिक अच्छा होगा। घ ध, म भ में भ्रम होने की गुंजाइश हो सकती है, अतः अंतर रखने के लिए ध, भ को घुंडीदार रूप में (ध, भ) रक्खा जा सकता है।

उपर्युक्त परिवर्द्धनों तथा सुधारों को स्वीकार कर लेने पर देवनागरी लिपि भारत के लिए सर्वाधिक उपयुक्त राष्ट्रलिपि बन सकती है।

सूफ़ी प्रेमाख्यान साहित्य के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा

श्री परशुराम चतुर्वेदी

कहते हैं कि 'सूफ़ी' शब्द का प्रयोग, सर्वप्रथम, शेख़ अबू हाशिम के लिए किया गया था जो मोसल नगर में उत्पन्न हुए थे। ये शाम देश के कूफ़ा नगर में रहा करते थे और इन्होंने ईराक देश के 'रमला' नामक स्थान में अपना कोई मठ भी स्थापित किया था, परंतु इनकी जन्म अथवा मरण-संबंधी तिथियों का हमें कोई निश्चित पता नहीं चलता। केवल इतना ज्ञात होता है कि ये ईस्वी सन् की नवीं शताब्दी में वर्तमान थे और यह अनुमान भी किया जाता है कि, तब से प्राय ५० वर्षों मे, यह शब्द बहुत प्रचलित भी हो गया होगा। "कुशैरी (मृ० सन् ९८८ ई०) तथा शहाबुद्दीन सुहर्वर्दी (मृ० सन् १२३४ ई०) के अनुसार 'सूफ़ी' शब्द पहले पहल, हिजरी सन् के द्वितीय चरण के अंत में, सन् ८१५ ई० के अनंतर, प्रयोग में आया होगा और उनका यह कथन इस बात से भी प्रमाणित होता है कि इसे न तो 'हदीश' के संग्रह-ग्रंथ 'सित्त:' में कोई स्थान मिला है जो नवीं और दसवीं शताब्दी मे प्रस्तुत हुआ था और न यह उस प्रसिद्ध अरबी कोश 'क़ामूस' मे ही मिलता है जो सन् १४१४ ई० में तैयार किया गया था।"[१] क्योंकि इन जैसी पुस्तकों तक मे इसका न पाया जाना कम से कम इसकी अप्रसिद्धि का ही सूचक हो सकता है। इस समय तक इस्लाम धर्म द्वारा प्रभावित देशों के शासक उमैया वंश वालों का शासन-काल समाप्त हो चुका था और तब तक अब्बास-वंशी लोगों का प्रभुत्व भी स्थापित हो गया था जिनके समय में उस धर्म का प्रवेश इधर ईराक तथा उसके आगे तक हो गया।

'सूफ़ी' शब्द का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ अधिकतर 'सूफ़' अर्थात् 'ऊन से बने मोटे वस्त्र धारण करने वाला' समझा जाता है। ऐसे लोग उन दिनों बहुधा, ऐश्वर्य एव भोग विलास से सर्वथा दूर बने रह कर, सीधा सादा जीवन व्यतीत करते थे तथा प्राय: आध्यात्मिक साधनाओं मे भी लगे रहते थे और इस प्रकार के व्यक्तियों में से कुछ इसके पहले भी हो चुके थे। तदनुसार प्रारंभिक युग के सूफियों मे अबूहसन बसराबी का नाम भी बडी श्रद्धा के साथ लिया जाता है जिनका देहांत सन् ७२८ ई० में हुआ था और जिन्हें इनके प्रशंसक स्वय ख़लीफ़ा अली के समान चरित्रवान् बतलाते हैं तथा उन्ही में बसराविनी राबिया की भी गणना की जाती है, जिसका मृत्युकाल सन् ८०२ ई० है और जो एक अत्यत दरिद्र परिवार की होती हुई भी, अपने सांसारिक सुखों के लिए स्वयं परमेश्वर तक से भी कुछ मांगने में लज्जा का अनुभव किया करती थी। अपने इष्टदेव के प्रति वह 'तवक्कुल' अथवा पूर्ण निर्भरता का भाव सदा बनाये रहा करती थी और,

---

१ Dr Jhn A Su han S ufism, Its Saints and Shrines Lucknow 1938 7

उसे एक क्षण के लिए भी न भूलती हुइ उसकी प्रार्थना म सदा निरत रहना भी पसद करती थी इस प्रकार उस युग के सूफियो की विशेषता उनकी एकांत प्रियता ईश्वराराधना तथा ध्यानजनित आनंद में सदा मग्न रहने में निहित कही जा सकती है। वे लोग न तो किसी बात का प्रचार करना चाहते थे और न उन्हें आत्मप्रदर्शन ही पसंद था। उनकी वृत्ति प्रधानतः अंतर्मुखी थी और, उनके लिए कहा जा सकता है कि वे अधिक से अधिक इस्लाम धर्म की मौलिक भावनाओ द्वारा ही प्रभावित भी थे।

परंतु, ईस्वी सन् की नवी शताब्दी के प्रायः प्रथम चरण मे ही, ऐसे सूफियों की मनोवृत्ति मे बहुत परिवर्तन दीख पड़ने लगा। इस समय तक अब्बास वंश वाले मुस्लिम शासकों ने अपनी राजधानी दमिश्क से हटा कर बगदाद में स्थापित कर ली थी और, उनके प्रसिद्ध मंत्री बरमका द्वारा प्रोत्साहन पाकर, बौद्ध एवं हिंदू विचारधाराओं को समुचित प्रश्रय भी मिलने लगा था। उनके मामू तथा हारूं रशीद नामक बादशाहों ने अपने यहाँ विभिन्न मतावलम्वी लोगो को निमंत्रित कर उनसे विचार विनिमय कराया तथा उनके विशिष्ट ग्रंथों के अनुवाद भी कराये जिसका एक परिणाम यह हुआ कि उस काल के सूफ़ी लोगों में भी दार्शनिक प्रश्नों पर तर्क-वितर्क करने की प्रवृत्ति जग उठी। तदनुसार तत्कालीन ईरानी, ईसाई धर्मी, नव अफलातूनी एवं भारतीय विचार-धाराओं के सम्मिश्रण और समन्वय के फलस्वरूप, सूफ़ी साधकों का एक अपना पृथक् मत, 'सूफ़ी-मत' के नाम से, विकसित हो चला और उसके अंतर्गत अनेक ऐसी बातों का भी समावेश होने लगा जो मूल इस्लाम धर्म के प्रचलित सिद्धांतों के ठीक अनुकूल नहीं समझी जा सकती थीं। इस समय के सूफ़ी जुलनून मिस्री (मृ० सन् ८५९ ई०) ने यूनानी चिंतन-शैली के अनुसार बुद्धिवादी व्याख्या की प्रणाली आरंभ की, अबू यजीजुद्दीन बिस्तामी का बायजीद (मृ० सन् ८७५ ई०) ने, कदाचित् सर्वप्रथम, बौद्धों के 'निर्वाण' की भांति 'फ़ना' की धारणा प्रचलित की और हल्लाज वा मसूर (मृ० सन् ९२२ ई०) ने अपनी 'सर्वात्मवाद' के प्रति घोर आस्था द्वारा, भारतीय वेदांत दर्शन के अद्वैत सिद्धांत की ओर भी सभी का ध्यान आकृष्ट कर दिया।

सूफ़ियो में इस प्रकार की नवीन चिंतन-पद्धति के चल निकलने पर मूल इस्लाम धर्म के प्रेमियों ने उनके प्रति विरोधभाव प्रदर्शित करना आरंभ किया, जिस कारण अल्जुनैद (मृ० सन् ८८९ ई०) जैसे कुछ लोगों की ओर से यह प्रयास भी होने लगा कि इन दो परस्पर विरोधी मतो मे कोई सामंजस्य भी लाया जाय। इसका समर्थन पीछे अन्य सूफ़ियों ने भी किया जिनमें अल् हुज्विरी (मृ० सन् ९९५ ई०) तथा अल् ग़ज़ाली (मृ० सन् ११११ ई०) की गणना विशेष रूप मे की जाती है। अल् हुज्विरी ने इस संबंध मे अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'कश्फुल महजूब' की रचना की जिसके अंतर्गत उन्होंने, अपने समय तक प्रचलित सूफ़ी संप्रदायों का वर्गीकरण कर, उनकी विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। इस प्रकार उन्होंने यह प्रदर्शित करने की भी चेष्टा की कि उनमें से कदाचित् ही कोई ऐसा है जो इस्लाम धर्म के मौलिक सिद्धांतों के सर्वथा प्रतिकूल जाता हो। अल् ग़ज़ाली का कार्य अल् हुज्विरी से भी कहीं अधिक गंभीर और सुव्यवस्थित सिद्ध हुआ। उन्होंने अपनी विद्वत्ता एवं योग्यता के आधार पर इस्लाम धर्म की मौलिक धारणाओं की भी [illegible] एक नवीन ढंग से कर डाली और अपने ग्रंथ इह्याउल उलूम की रचना द्वारा इस बात को बड़ी [illegible] के साथ सिद्ध कर दिया कि वस्तुत उसके अनुसार निर्धारित [illegible]

जीवन का स्वरूप भी प्रचलित सूफ़ी मत-संबंधी आदर्शों से किसी प्रकार अधिक भिन्न पड़ता नहीं प्रतीत होता। अल् ग़ज़ाली के ऐसे प्रयत्नों ने इस प्रकार, सूफ़ीमत की क्रांतिकारी विचारधाराओं को भी इस्लाम धर्म के अंतर्गत महत्वपूर्ण स्थान दे डाला जिसका पीछे बहुत प्रभाव पड़ा।

अल् ग़ज़ाली के अनंतर कतिपय सूफ़ी कवियों ने भी ऐसी बातों की ओर अपना ध्यान दिया और अपनी उत्कृष्ट काव्यमयी रचनाओं के माध्यम द्वारा, सूफ़ीमत के विविध सिद्धान्तों तथा उसकी साधनाओं को अधिकाधिक लोकप्रिय बना डाला। इन सूफ़ी कवियों ने प्रधानतः उस प्रेम तत्व को महत्व दिया जो सूफ़ी साधक एवं परमात्मा के पारस्परिक संबंध का मूलाधार है। उन्होंने अपनी सरस उक्तियों तथा रोचक वर्णनों द्वारा प्रेमभाव के प्रायः प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला और, कभी कभी उसे अपनी ललित कहानियों में उदाहृत करते हुए उस पर ऐसा अनुपम रंग चढ़ा दिया जिससे वह सर्वसाधारण तक के लिए भी सरल और सुबोध बन गया। इन काव्य-रचयिताओं की कृतियाँ पीछे बहुत प्रसिद्ध हो चलीं और उनमें आये हुए अनेक शब्दों ने पारिभाषिक रूप तक ग्रहण कर लिया जिस कारण उनसे सूफ़ीमत के प्रचार में इतनी सुगमता आ गई जो उसकी केवल दार्शनिक वा आध्यात्मिक दृष्टि के ही आधार पर कभी सम्भव नहीं थी तथा, बहुत कुछ ऐसे शब्दों के विचित्र आकर्षण ने ही उसे अधिक व्यापक बनने में भी सहायता पहुँचाई। इन सूफ़ी कवियों में कुछ ऐसे थे जिन्होंने प्रसिद्ध सूफ़ियों के परिचय अथवा जीवन वृत्तों की भी रचना की और उनमें स्वभावतः बहुत सी ऐसी पौराणिक बातों तथा चमत्कारों तक का समावेश कर दिया जिनके कारण सूफ़ीमत की अनेक विचारधाराओं का स्पष्टीकरण हो गया। इसी प्रकार इन सूफ़ी कवियों ने अनेक रुबाइयाँ, मसनवियाँ तथा गज़लें भी केवल इसी उद्देश्य से लिख डालीं कि उनके माध्यम से अत्यंत गूढ़ प्रश्नों तक पर भी स्पष्ट प्रकाश डाला जा सकता था, किंतु इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण कदाचित्, उनकी प्रेम-गाथाएँ ही सिद्ध हुई।

अरबी भाषा के अंतर्गत प्रेम-काव्यों की रचना बहुत पहले से ही होती आ रही थी और वे प्रायः युद्ध वर्णनों में प्रासंगिक रूप से आ जाते थे। विशुद्ध व्यक्तिगत प्रेम अथवा ईश्वरीय प्रेम के प्रतीकात्मक वर्णन की परम्परा उधर सर्वत्र प्रथम, फ़ारसी भाषा में ही प्रतिष्ठित हुई। फ़ारसी कवियों ने प्रेमोन्माद एवं विरह का वर्णन करते समय, अपनी गज़लों का प्रयोग विशेष रूप से किया तथा अपनी मसनवी रचनाओं के सहारे ईश्वरीय प्रेम का प्रतिपादन और स्पष्टीकरण भी किया। उनकी ऐसी गज़लें तथा रुबाइयाँ अधिकतर फुटकर ही पायी जाती हैं, किंतु उन्हें संगृहीत कर विभिन्न 'दीवानों' तथा 'कुल्लियात' का रूप दे डालने की परम्परा भी देखी जाती है। इसके विपरीत, मसनवी रचना-पद्धति के अनुसार, किसी वर्ण्य-विषय को अधिक विस्तार भी दिया जा सकता है। इस कारण ये कवि, अपनी मसनवियों के माध्यम से, किसी दृष्टांत वा कथा का भी वर्णन करने लग जाते हैं और इस प्रकार बहुधा भौतिक प्रेम की घटनाओं की सहायता से उस ईश्वरीय प्रेम को भी उदाहृत कर देते हैं जो सूफ़ियों का चरम लक्ष्य समझा जाता है। रुबाइयों की रचना के लिए उमर ख़य्याम (मृ० सन् ११२३ ई०) अधिक प्रसिद्ध हैं और इसी प्रकार, ग़ज़लों के लिए प्रसिद्ध हाफिज (मृ० सन् १३९० ई० को सर्वाधिक श्रेय दिया जाता है तथा ये दोनों कवि अपनी ऐसी के कारण अमर हो गए हैं परन्तु मसनवी-पद्धति की रचनाओं के संबंध में प्रायः

सनाई (मृ० सन ११३१ ई०) निज़ामी (मृ० सन १२० ई० अत्तार (मृ० सन १ ० ई०) तथा रूमी (मृ० सन् १२७३ ई०) एवं जामी (मृ० सन् १४९२ ई०) के नाम लिये जाते हैं। इनमें से भी सनाई तथा अत्तार को इस रचना-शैली के कदाचित् पुरस्कर्ता होने का ही श्रेय प्राप्त है और इसी प्रकार, रूमी ने भी इसका प्रयोग अपने दृष्टांतों में ही किया है। केवल निज़ामी एवं जामी ही ऐसे दो प्रसिद्ध कवि हैं जिन्होंने इससे अपनी प्रेम-गाथाओं की भी रचना में काम लिया है। इन दोनों फ़ारसी कवियों की सफलता के कारण एक ऐसी रचना-पद्धति को प्रोत्साहन मिला जो अन्य भाषा के कवियों का भी आदर्श बन गई।

निज़ामी की पाँच मसनवियाँ 'खम्स' अथवा पंजगंज (पांच बहुमूल्य कोश) कहलाकर प्रसिद्ध हुई। इनके नाम क्रमशः 'मखजन अल् असरार' (सन् ११७६ ई०), 'खुसरोशीरीं' (सन् ११८० ई०), 'लैला मजनूँ' (सन् ११८८ ई०), 'इस्कन्दर नामा' (सन् ११९१ ई०) तथा 'हफ्त पैकर' (सन् ११९८ ई०) हैं और इनकी लोकप्रियता के कारण पीछे कई अन्य कवियों ने भी इस प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कर डालीं। उदाहरण के लिए न केवल उधर के कवियों में से किरमान ख्वाजू (मृ० सन् १३५२ ई०) तथा उपर्युक्त जामी ने ही निज़ामी का अनुसरण किया, अपितु भारत के प्रसिद्ध फ़ारसी कवि अमीर खुसरो (मृ० सन् १३२५ ई०) ने भी ऐसी रचना का निर्माण करने में अपने को धन्य माना और तुर्की भाषा का कवि शेख़ी (मृ० सन् १४२९ ई०) तो इस प्रकार की शैली के अनुकरण में अपनी 'शीरीं खुसरो' की रचना करके ही अमर हो गया। निज़ामी की इन खम्स वाली रचनाओं में से भी 'खुसरो शीरीं' तथा 'लैला मजनूं' की विशेष प्रसिद्धि हुई। 'खुसरो शीरीं' के अंतर्गत सासानी सम्राट् खुसरो परविज तथा उसकी प्रेमपात्री शीरीं की दुःखान्त प्रेम-कहानी आती है जिसमें उस सुन्दरी के एक अन्य प्रेमी फरहाद को उसकी मृत्यु का झूठा समाचार सुनते ही अपने प्राणों से हाथ धो देना पड़ता है। फिर अन्त में सम्राट् परविज किसी के द्वारा मार दिया जाता है और उसे भी क़ब्र दिलाकर स्वयं शीरीं तक अपनी आत्महत्या कर लेती है। इसी प्रकार 'लैला मजनूँ' में भी निज़ामी ने अरब देश के क़ैस नामक प्रेमी तथा उसकी प्रेमपात्री लैला की प्रेम-कहानी अंकित की है और अन्त में उन दोनों के ही मार्ग में अनेक प्रकार की बाधाओं का सृजन कर, उनका पूर्ण संयोग नहीं होने दिया है जिससे वह कथा भी दुःखांत बन गई है। परंतु जैसा स्वयं निज़ामी के कथन द्वारा भी स्पष्ट हो जाता है, इन रचनाओं के माध्यम से उसने वास्तविक प्रेम का रहस्य भी बतला दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि "जो इश्क चिरस्थायी नहीं वह केवल यौवन-सुलभ क्रीड़ा के समान है और केवल वही प्रेम सच्चा है जो न तो कभी अपनी तीव्रता में कम होता है और न जिसका किसी प्रकार, अन्त तक, परित्याग ही किया जा सकता है।"[1]

अमीर खुसरो ने भी अपनी पाँच मसनवियाँ, बहुत कुछ निज़ामी के प्रतिस्पर्धी के भाव से तथा उन्हें 'खम्स' का ही रूप देकर लिखीं और उसने उन्हें क्रमशः 'मतल उल् अनवार', 'शीरीं खुसरो', 'मजनू लैला', 'आईन ए इस्कन्दरी' तथा 'हश्तबिहिश्त' के नाम दिये। उसकी रचना 'शीरीं खुसरो' तथा 'मजनूं लैला' की कथाओं का आधार स्वभावतः निज़ामी की वैसी रचनाओं

---

१ 'लैला मजनूं' (निज़ामी) प्रेस (सन १८८० ई०) वाला), पृ० ३०

में पाया जाता है, किंतु एक भारतीय तथा परवर्ती कवि होने के कारण उसने उनमें कई ऐसी नवीन बातों का भी समावेश कर दिया है जो उनमें नहीं थीं। उसकी रचनाओं के अन्तर्गत कहीं-कहीं भारतीय वातावरण के चिह्न लक्षित होते हैं जो निजामी की कृतियों में नहीं पाये जाते तथा इसी प्रकार जिस लगन के साथ उसने प्रेमियों का संयोग संबंधी चित्रण करने की भी चेष्टा की है वह उसके यहाँ दुर्लभ ही समझी जा सकती है। इसी प्रकार अमीर खुसरो ने, इन दोनों प्रेम-कहानियों के अतिरिक्त 'इश्किया' (खिज्रनामः) अथवा 'दुवलरानी खिज्रखाँ' नामक एक अन्य प्रेमगाथा की भी रचना की है जिसमे उसने "भारतीय सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्र खाँ के विशेष अनुरोध में, उसके गुजरात के राजा की पुत्री दुवलरानी के प्रति प्रदर्शित प्रेम-भाव को बड़े विशद रूप में कल्पित कर दिखाया है।"[१] उसकी यह प्रेम-कहानी भी दुःखांत ही है। किरमान के उपर्युक्त ख्वाजू कवि ने भी 'खम्स' की रचना का प्रयास किया है और उसने उसके अंतर्गत अपनी 'हुमाय हुमायूं' तथा 'नौरोज गुल' नामक दो प्रेम-कथाओं को स्थान दिया है, किन्तु इनमें उक्त प्रकार की स्पष्ट विशेषताओं का कोई पता नहीं चलता। जहाँ तक जामी के संबंध में कहा जा सकता है, उसने 'खम्स' की जगह 'हफ्त औरंग' अर्थात् 'सप्त सिंहासन' की रचना कर डाली और उसमें समाविष्ट की जाने वाली सात रचनाओं में से 'सलामान ओ अब् साल', 'यूसुफ़ जुलेखा' तथा 'लैला मजनूँ' को प्रेम-कहानियों का रूप दिया। इन तीनों में भी सूफ़ियों का वही प्रेमादर्श अंकित किया गया है जिसे, "जो प्रेम बन्धनपरक होता है वह कलुषित हुआ करता है, किन्तु जो उन्मुक्त रहता है वही विशुद्ध है।"[२] जैसे शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सकता है।

सूफ़ियों की धारणा के अनुसार हम, संसार में रहकर परमात्मा से वियुक्त हो गए रहते हैं जिस कारण उसे फिर से प्राप्त कर उसके साथ पूर्ण आत्मीयता का भाव अनुभव करने लगना ही हमारे जीवन का अंतिम लक्ष्य होना चाहिए। परमात्मा वस्तुतः विशुद्ध प्रेमस्वरूप है और वह प्रेम-साधना के ही द्वारा हमें उपलब्ध भी हो सकता है, इसलिए हमें चाहिए कि उसके प्रति अपने प्रेमभाव को विकसित करें, अपने उस प्रेमपात्र को अपने हृदय में स्थान देने के लिए इसे सर्वथा दोषरहित और पवित्र बना डालने की भरपूर चेष्टा करें तथा उसे निरंतर स्मरण करते-करते और उसे सर्वत्र अनुभव करने का अभ्यास डालते हुए, अन्त में उससे मिल जायँ। अल हुज्विरी का कहना है कि "परमात्मा के प्रति प्रेम प्रत्येक मानव के हृदय में विकास पाता है और यह सर्वप्रथम, उसके लिए श्रद्धा के रूप में पाया जाता है। वह क्रमशः व्यापक बनता चला जाता है और प्रेमी साधक को उस समय तक शांति नहीं मिला करती जब तक यह उसे पा नहीं लेता। यह उसके लिए बेचैन होकर तड़पने लग जाता है, उसके सामने प्रत्येक सांसारिक विषय की ओर से अनासक्त बन जाता है और केवल प्रेमपात्र के ही नियमों का पालन करता हुआ, परमात्मा

---

१. M. A. Ghani : 'The Pre-Mughal Persian in Hindustan' (Allahabad, 1941) p. 390.

२ F Hadland Davis The Pı Mystics Jamı (London, 1918 p 24

का पूर्ण परिचय पा लेता है सूफी साधक परमात्मा को अपना प्रियतम कहा करता है और सामान्यतः यह इसमें विश्वास रखता है कि वह भी उसके प्रति प्रेम भाव रखता होगा। बहुत से सूफियों की तो यहाँ तक मान्यता है कि परमात्मा का ऐसा प्रेम उसका कोरा 'अनुग्रह' मात्र ही न होकर ठीक 'सांसारिक प्रेम' जैसा भी हो सकता है। जो हो, वे लोग इसी दृष्टिकोण के अनुसार मानवीय प्रेम को उस आध्यात्मिक प्रेम की दशा तक पहुँचने का समर्थ साधन मानते हैं। जामी ने एक स्थल पर स्पष्ट शब्दों में कहा है, "इस संसार में तुम चाहे सैकड़ों उपाय करो, किंतु एक मात्र प्रेम ही ऐसा है जो तुम्हारे 'अहंभाव' से तुम्हारी रक्षा कर सकता है, तुम्हें सांसारिक प्रेम से मुख मोड़ने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वही तुम्हें परमात्मा तक पहुँचने में सहायक होगा।"[१] 'इश्क मजाजी' और 'इश्क हकीकी' में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है, जिस कारण पहला दूसरे तक पहुँचने का स्वाभाविक सोपान भी बन जा सकता है। उपर्युक्त प्रेम-गाथाओं के रचयिता सूफी कवियों की इस मान्यता के प्रति पूर्ण आस्था रही और इसीलिए उन्होंने ईश्वरीय प्रेम की उपलब्धि के लिए किये जाने वाले प्रयासों को उदाहृत करने के उद्देश्य से अपनी उपर्युक्त सरस कृतियों का निर्माण किया।

ऐसे प्रयासों अथवा साधनाओं को सूफियों ने परमात्मा की ओर की जाने वाली किसी अपूर्व यात्रा के रूप में चित्रित किया है। उनके अनुसार प्रत्येक ऐसा साधक, 'सालिक' या यात्री की भाँति, अपने मार्ग पर अग्रसर हुआ करता है। अल् ग़ज़ाली का कहना है कि "परमात्मा (अल्लाह) सत्तर सहस्र पर्दों के भीतर है जिनमें से कुछ प्रकाशमय तथा शेष अन्धकारमय हैं और यदि वह उन आवरणों को हटा लेवे तो, जिस किसी की भी दृष्टि उस पर पड़ेगी वह उसके प्रखर प्रकाश द्वारा दग्ध हो जायगा।"[३] जन्मग्रहण करने के अनंतर हम प्रकाशमय पर्दों की ओर से क्रमशः अन्धकारमय पर्दों की ओर आते हैं और हमारा एक-एक ईश्वरीय गुण कम होता जाता है, किंतु वे ही हम जब उसकी ओर एक 'सालिक' के रूप में, प्रत्यावर्त्तन करने लगते हैं तो, इसके विपरीत, उसके 'नूर' की ओर चले जाते हैं ऐसी दशा में हमें उस ओर विभिन्न सात सोपानों से होकर क्रमशः जाना पड़ता है और फिर, अन्त में, चार अन्य स्थितियों को भी पार करना पड़ जाता है। सूफियों ने सप्त सोपानों को क्रमशः 'अनुताप', 'आत्मसंयम', 'वैराग्य', 'दारिद्रय', 'धैर्य', 'आस्था' और 'संतोष' के रूपों में माना है और शेष चार को अपने शब्दों में, उसी प्रकार 'मारिफत' (बुद्धि प्रसूत ज्ञान), 'इश्क' (प्रेम), 'वज्द' (उन्मादना) एवं 'वस्ल' (मिलन) जैसे नाम दिये हैं। इनमें से अंतिम तीन दशाओं में मदन भाव का भी अंश वर्तमान रहा करता है जो क्रमशः सूक्ष्मतर होता चला जाता है और इसीलिए, इनके वर्णनों में स्वभावतः उन बातों का

---

१. Hujwiri : Kashfal Mahjub' (Nicholson's Translation, London, 1911) pp. 307-8.

२. E. G. Browna : A Literary History of Persia (Cambridge 1928) p 442.

३ tul Anwar Al Translated by W H. T Gardener pp 88-9

भी समावेश हो जाता है जिनका रागरंग अथवा उन्मुक्त विलासिता जन्य मस्ती से संबंध है तथ। 'इश्क मजाजी' और 'इश्क हकीकी' के तत्त्वतः एक समझे जाने का यही रहस्य भी हो सकता है।

प्रेम-मार्ग की इस अनुपम यात्रा को सांसारिक प्रेमियों के जीवन में घटाते समय, उसकी प्राय: सभी बातों पर ध्यान दिया जाता है, ऐसे प्रेमी के लिए उसका प्रेमपात्र परम सौंदर्य का आधार बन जाता है जिसकी ओर वह आपसे आप आकृष्ट हो पड़ता है। वह फिर उसे प्राप्त कर लेने के प्रयत्नों मे लग जाता है और ऐसा करते समय वह किसी न किसी रूप में उन सारी दशाओं मे भी आता चला जाता है जिनकी गणना उक्त सप्त सोपानों तथा चार स्थितियों के अंतर्गत की गई है। जिन दशाओं को सप्त सोपान कहा गया है वे वस्तुतः एक प्रेमी के लिए कतिपय नैतिक गुण जैसे बन जाते है और उनके कारण उसके जीवन में एक विचित्र परिवर्तन भी आ जाता है। उनका अपने कार्य की सिद्धि के लिए दृढ़व्रती बन जाना, अपूर्व साहस से काम लेना तथा प्रयत्नशील रहना, सब इसी बात के द्योतक हैं। फिर, इसी प्रकार उसका क्रमशः प्रेमावेश की मस्ती मे आकर निर्द्वन्द्व सा बन जाना तथा अपने उस प्रयत्न की ही दशा में, अपने को नष्ट तक कर डालने से मुंह न मोड़ना, उसके ऐसे अलौकिक गुणों का परिचय देते हैं जो साधारणतः दुर्लभ ही कहे जा सकते हैं। सांसारिक प्रेमियों के जीवन में हम प्राय: ऐसे अनेक संकटों का भी आना-जाना देखते है जो उन्हें कभी-कभी विचलित सा कर देते जान पड़ते हैं और हमें ऐसा लगता है कि इनके कारण वे अपने प्रयत्नों से सर्वथा विरत हो जायंगे। परंतु फिर हमें यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य भी होने लगता है कि वे अन्त में, इनकी पूरी उपेक्षा कर देते हैं और अपनी सिद्धि के लिए मर मिटते हैं। सूफी प्रेम-गाथाओं के कवियों ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत ऐसे विविध संकटों और बाधाओं के भी स्पष्ट वर्णन किये हैं और उन्होंने उसके साथ यह भी बतला दिया है कि उनके एकांतनिष्ठ प्रेमियों ने किस प्रकार अन्त तक अपना व्रत निभाया।

सूफ़ी कवियों ने अपनी ऐसी रचनाओं के निर्माण-कार्य को भी बहुत बड़ा महत्व प्रदान किया। उन्होने इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेना अत्यन्त कठिन समझा, जिस कारण उन्होने इसके लिए सर्वप्रथम परमात्मा की स्तुति की, हज़रत मुहम्मद तथा उनके परवर्ती चार खलीफाओं का गुणानुवाद किया और अपने पीर का परिचय देकर उसके प्रति भी पूरी श्रद्धा प्रदर्शित की। उन्होंने ऐसा करते समय बराबर इस बात की ओर भी ध्यान रखा कि अपने समकालीन बादशाह वा शासक की भी प्रशंसा कर दें और तब कहीं अपना परिचय देते समय, अपने उद्देश्य अथवा वर्ण्य-विषय की कुछ चर्चा करें। अपनी इन रचनाओं के लिए वे या तो किसी पूर्व प्रचलित कहानी का कथानक ले लिया करते थे अथवा इसके लिए अपनी कल्पना का प्रयोग करते थे। परंतु प्रत्येक दशा में वे अपने पूर्व निश्चित नियमों का ही अनुसरण करते दीख पड़ते थे और उनके इस प्रकार परम्परा का पालन करते आने के कारण एक विशिष्ट रचना-पद्धति का रूप निखरता चला आया। उनका यह कार्य सूफ़ीमत की प्रेम-प्रणाली वा प्रेम-साधना के स्पष्टीकरण और प्रचार का उद्देश्य रखता था। जिस कारण यह उनके अपने एक श्रेष्ठ कर्त्तव्य की कोटि का भी समझा जा सकता था और एक उत्कृष्ट आध्यात्मिक जीवन का स्वरूप निरूपित करने की दृष्टि से उनके लिए सर्वथा धार्मिक ही कहा जा सकता था। अतएव इसके लिए किसी सांसारिक प्रेम-कहानी की रचना करते समय उन्हें स्वभावत कुछ न कुछ अनौचित्य का भी बोध हो सकता था। सूफ़ी कवियों ने

इसी कारण बराबर इस बात की भी चेष्टा की कि उसका रूप अंत में किसी रूपक वा उपमिति कथा का ही जान पड़े और इसके लिए उन्होंने इसमें प्रसंगवश अपने सिद्धांतों का समावेश किया तथा कभी-कभी उक्त गूढ़ रहस्य का उद्घाटन तक भी कर दिया।

सूफ़ीमत का प्रवेश भारत में, सर्वप्रथम कब और कैसे हुआ, इसका निश्चित पता नहीं चलता। परंतु इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि इस्लाम धर्म यहां पर महम्मद बिन कासिम द्वारा सिंध आक्रमण किये जाने अर्थात् सन् ७१२ ई० तक, अवश्य पहुंच गया था। अरब देश के व्यापारियों के साथ मालाबार के समुद्रतट पर तथा कदाचित्, पंजाब की ओर भी ऐसे धर्मोपदेशकों का तब तक आकर अपने धर्म का प्रचार करने लगना और वहां इसका न्यूनाधिक प्रभाव का पड़ने लगना भी प्रसिद्ध है। फिर भी, जहां तक सूफ़ीमत के यहां तक पहुंच पाने का संबंध है, यह घटना संभवतः ईस्वी सन् १००० के पहले नहीं घट पायी थी। इसके प्रचार की चेष्टा करने वाले धर्म-प्रचारकों में सर्वप्रथम नाम बहुधा शेख इस्माइल का लिया जाता है जो सन् १००५ ई० में लाहौर आये थे,[1] किन्तु इनका भी पूरा परिचय नहीं मिलता। केवल इतना ही पता चलता है कि ये एक प्रभावशाली व्यक्ति थे और इन्होंने बहुत से लोगों को धर्मांतरित भी किया था।[2] निश्चित रूप में यहां सूफ़ीमत का प्रचार आरंभ करने वाले अल् हुज्विरी ही कहे जा सकते हैं जो सन् १०३९ ई० में यहां एक बंदी के रूप में पहुंचे थे। ये अफ़गानिस्तान देश के ग़ज़नी नगर के निवासी थे और एक बहुत बड़े विद्वान् एवं धर्माचार्य भी थे। इन्होंने अपना जीवन, अविवाहित रूप में तथा धर्म प्रचार करते-करते ही यापन किया और इन्होंने अपने समय तक प्रचलित सूफ़ीमत की रूपरेखा को फ़ारसी भाषा के माध्यम द्वारा प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय भी, यहीं पर प्राप्त किया। इन्हीं का लिखा हुआ 'कश्फ़ुल महजूब' नामक वह प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसके रचनाकाल का लगभग सन् १०५० ई० में होना अनुमान किया जाता है।

अल् हुज्विरी के जीवन-काल तक सूफ़ी कवियों द्वारा रची जाने वाली प्रेम-गाथाओं की परम्परा कदाचित् प्रतिष्ठित भी नहीं हो पायी थी और सूफ़ीमत के प्रचारक उस समय तक अधिकतर अपने छोटे-बड़े निबन्धों जैसे कुछ ग्रन्थों द्वारा ही काम लेते आ रहे थे। वे इनमें अपने मत का निरूपण करते, उसके विविध अंगों की विस्तृत व्याख्या कर देते तथा कभी-कभी उसके अनुसार आध्यात्मिक जीवन-यापन करने वाले प्रसिद्ध महापुरुषों का परिचय देकर भी अपनी बातों का समर्थन किया करते थे। ऐसे ग्रन्थ बहुधा अरबी भाषा में ही लिखे जाते थे और इन्हें प्रायः धर्म-पुस्तकों जैसा महत्व भी दिया जाता था। ईरान देश में सूफ़ी मत का प्रचार हो जाने पर इसके लिए फारसी भाषा का भी प्रयोग आरंभ हो गया और बहुत से सूफ़ी इसमें अपनी कविताओं की रचना तक करने लग गए। इस समय तक इस मत के क्रमिक विकास का 'आचरण प्रधान' प्रथम युग व्यतीत हो चुका था और इसका 'चिंतन प्रधान' द्वितीय युग भी समाप्त होने लगा था तथा इसके उस तृतीय युग का आरंभ हो गया था जिसमें इसके तुलनात्मक अध्ययन की भी एक विशिष्ट परम्परा चल निकली और इसके प्रचारकों ने इसे मूल इस्लाम धर्म की परिधि के भीतर

---

१ T W Arnold – 'The Preaching of Islam' (1935) p 280

२ गुलाम सरवर 'खज़ीनतुल असफ़िया' लाहौर भाग २ पृ० २३०

प्रतिष्ठित कर देने की भी चेष्टा आरंभ कर दी। अल् हुज्विरी ऐसे ही लोगों में से अन्यतम थे और इसी प्रकार के प्रयत्न पीछे अल् ग़ज़ाली आदि के द्वारा भी किये गए। फ़ारसी कवियों ने इनके साथ सहयोग करते समय अपनी सरस रचनाओं से भी पूरा काम लिया और इस प्रकार उन्होंने एक विशाल सूफ़ी काव्य साहित्य की सृष्टि कर दी। जब, अल् हुज्विरी के अनन्तर भारत में सूफ़ीमत की लोकप्रियता बढ़ी और उसके चिश्तिया, सुहर्वर्दिया तथा कादिरिया जैसे कई सम्प्रदायों द्वारा उसके प्रचार-कार्य को विशेष बल मिला तो यहाँ के सूफ़ियों में वैसी काव्य-रचना की प्रवृत्ति भी स्वभावतः जग उठी और न केवल फ़ारसी अपितु यहाँ की स्थानीय भाषाओं तक के माध्यम आपसे आप अपनाये जाने लगे और जब ईरान में फ़ारसी की प्रेम-गाथाओं की रचना होने लगी तो उनके अनुकरण में, यहाँ के सूफ़ी कवियों ने वैसी शैली को भी प्रश्रय देना आरंभ कर दिया।

'कश्फुल महजूब' की रचना के एक सौ से भी अधिक वर्षों के अनंतर उधर निज़ामी ने अपनी प्रेम-गाथाओं का लिखना आरंभ किया और इसके लगभग डेढ़-सौ वर्ष पीछे यहाँ पर अमीर खुसरो ने अपनी रचनाओं द्वारा उसका अनुकरण किया। अमीर-खुसरो के अनंतर फिर कुछ अन्य भारतीय फ़ारसी-कवियों ने भी ऐसी प्रेम-गाथाओं को लिखने का प्रयास किया जिनमें से एक अर्थात् मौलाना जमीरी बिलग्रामी सन् (मृ० सन् १५३४ ई०) ने, बादशाह हुमायूँ के शासन-काल में अपनी 'लैला व मजनू' अथवा 'सर गुजश्त मजनू' का प्रणयन किया।[1] इसी प्रकार, दूसरे कवि फैज़ी (मृ० सन् १५९५ ई०) ने सम्राट् अकबर के शासन-काल में अपनी प्रसिद्ध प्रेम-कथा 'नलदमन' को 'महाभारत' के 'नलोपाख्यान' का आधार लेकर पूरा किया। फैजी कवि को तो सम्राट् अकबर ने सन् १५८५ ई० में, निजामी के 'पंजगंज' के अनुकरण में कोई 'खम्स' लिखने का भी परामर्श दिया था और इसके लिए पाँच ग्रन्थ भी चुन लिए गए थे, किंतु उनमें से केवल 'नलदमन' को समाप्त करने पर ही इस कवि की मृत्यु हो गई। इस प्रेमाख्यान के अंतर्गत राजा नल और उसकी रानी दमयंती की प्रसिद्ध कहानी कही गई है, और इसकी आलोचना करते हुए, मुल्ला बदायूँनी ने बतलाया है, "यह सच है कि ऐसी मसनवी इन तीन सौ वर्ष में 'खुसरो-शीरीं' के बाद हिन्द में शायद ही किसी ने लिखी हो।"[2] फैजी की इस रचना में, अमीर खुसरो की मसनवियों से भी कहीं अधिक, भारतीय वातावरण के चिह्न लक्षित होते हैं और इसे इस कारण भी विशेष महत्व दिया जा सकता है कि उस कवि ने इसका कथानक भी भारतीय कथा-परम्परा से ही गृहीत किया है। परन्तु फिर भी वह न तो फ़ारसी भाषा के प्रयोग का मोह त्याग सका है और न एक भारतीय प्रेमाख्यान को ईरानी 'मसनवी' का रूप दे डालने से ही विरत रहा है। इस दूसरी बात के उदाहरण हम उन 'हिन्दवी' की रचनाओं में भी पाते है जो भारत के दक्षिण प्रदेश में लिखी गई हैं। इनमें से 'चन्दर बदन व महियार' को 'मकीमी' ने सन १६२५ ई० और १६३५ ई० के भीतर किसी समय लिखा था और उसके पहले व पदम' सन १४५७ ई० तथा

'कुतुब मुश्तरी' (सन् १६०९ ई०) की भी रचना हो चुकी थी और इन सभी के कथानक भी भारतीय प्रेम-कहानियों की घटनाओं से ही सम्बद्ध थे, किन्तु इनमें से सभी पर फ़ारसी की मसनवी-पद्धति की ही पूरी छाप लगी रह गई।

फ़ारसी की मसनवी-पद्धति से तो वस्तुतः उत्तरी भारत के भी वे सूफ़ी कवि अपने को नहीं बचा सके जिन्होंने अपनी प्रेम-गाथाओं को इधर की अवधी में लिखा तथा जिन्होंने दक्खिनी 'हिंदवी' वालों से कहीं अधिक, भारतीय प्रसंगों को भरसक सुरक्षित रखने की भी चेष्टा की। इन्होंने भी उसी प्रकार अपनी रचनाएँ परमात्मा की स्तुति से आरंभ कीं, हज़रत मुहम्मद के अलौकिक 'नूर' का गुणगान किया, उनके परवर्ती खलीफ़ाओं की स्तुति में दो-चार शब्द कहे तथा अपने पीरों की प्रशंसा में भी बहुत कुछ लिख डाला। इन्होंने, उसी शैली के अनुकरण में अपने 'शाहे वक्त' का भी वर्णन किया तथा फिर पुस्तक के बीचोंबीच में प्रेम-साधना के स्वरूप की ओर संकेत किया। इसके सिवाय, जब कभी इन्होंने अपना परिचय देना चाहा उस समय भी, इन्होंने बहुधा यही प्रयत्न किया कि स्वयं अपने को किसी प्रसिद्ध सूफ़ी संप्रदाय के साथ सम्बद्ध सिद्ध करें तथा अपनी रचना का उद्देश्य भी मसनवी-पद्धति जैसा ही प्रकट करें। इनमें से एकाध कवि हमें ऐसे भी मिल जाते हैं जिनका लक्ष्य इस्लाम धर्म के विशिष्ट महत्त्व तथा उसके सामने अन्य धर्मों की हीनता स्थापित करने का जान पड़ता है और ये कभी-कभी अपने को उसका प्रचारक होना तक स्वीकार करने में नहीं चूक पाते। परंतु इन जैसी अनेक बातों के होते हुए भी, इन सूफ़ी कवियों का झुकाव बहुत कुछ भारतीय परम्पराओं के अनुसरण की ओर ही होता जान पड़ता है और ऐसा करते समय ये बहुत अंशों तक उनके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते हुए से भी प्रतीत होते हैं। इनमें से बहुत से कवि हमें ऐसे ही मिला करते हैं जिन्होंने यहाँ के धर्म, समाज, साहित्य एवं संस्कृति को भरसक उनके अपने वास्तविक रूप में ही चित्रित करने का प्रयास किया है तथा इनके विषय में अपना अच्छा ज्ञान भी होना सिद्ध कर दिया है। इनकी एक विशेषता इस बात में भी लक्षित होती है कि ये अधिकतर या तो अपने कथानकों को लोक-प्रचलित कहानियों से ग्रहण करते हैं अथवा यदि कभी अपनी कल्पना से काम लेने का ऐतिहासिक तथ्य के ऊपर अपना रंग चढ़ाते हैं तो वहाँ पर भी, ये हमें अपनी उसी मनोवृत्ति का परिचय देते हैं जो किसी स्थानीय वातावरण के साथ उपयुक्त संगति बनाये रखने में प्रदर्शित की जा सकती है। इसके सिवाय नकी भाषा में पाये जाने वाले संस्कृत-निष्ठ तत्सम एवं तद्भव शब्दों की प्रचुरता, मुहावरों तथा कहावतों के सटीक प्रयोग, परम्परागत काव्य-रूढ़ियों की स्वीकृति एवं छंदों का व्यवहार आदि भी कुछ ऐसी बातें हैं जो इन्हें उनसे पृथक् कर देती हैं।

सारांश यह कि उत्तरी भारत के हिन्दी सूफ़ी प्रेमाख्यानों में हमें कतिपय ऐसी विशेषताएँ दीख पड़ती हैं जो इन्हें भारतीय प्रेमाख्यानों की प्राचीन काल से आती हुई परम्परा के भी बहुत निकट ला देती है। दक्खिनी हिन्दी अथवा 'हिंदवी' की ऐसी उपलब्ध रचनाओं के साथ इनकी तुलना करते समय हमें पता चलता है कि ये उनसे कम से कम लगभग ८० वर्ष पहले लिखे जाने लगते हे। इनमें से सबसे पहली प्रेमगाथा जो उपलब्ध हो सकी है वह 'चंदायन' है जिसका रचना-काल ई० सन ७८१ वा ७७९ दिया हुआ मिलता है जो ईस्वी सन के अनुसार क्रमशः सन १३७९ वा १३७७ ई० कहा जा सकता है इसकी रचना का स्थान नयर' वा नगर जिला

रायबरेली) है जो उत्तर प्रदेश के प्रायः उस क्षेत्र से अधिक दूर नहीं जो पटियाली (जि० एटा) में जन्म-ग्रहण करने वाले अमीर खुसरो कवि का था। अमीर खुसरो का देहांत सन् १३२५ ई० में हुआ था और इस प्रकार उसके द्वारा रची गई फ़ारसी मसनवियाँ उस समय तक अवश्य प्रचलित और प्रसिद्ध भी हो चुकी होंगी जिस समय मुल्ला दाऊद ने 'चंदायन' की रचना की। परंतु फिर भी यह कवि अपने उस परम योग्य समानधर्मा का अक्षरशः अनुकरण करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता और यह न केवल अपनी उस कृति के अंतर्गत केवल अवधी भाषा को ही अपनाता है अपितु, इसके साथ-साथ यह उनके लिए एक ऐसा कथानक भी चुन लेता है जो साधारण भारतीय समाज की कहानियों में उपलब्ध है तथा जिसके साथ सूफ़ीमत वा सूफ़ीसाहित्य का कोई प्रत्यक्ष मेल भी नहीं हो सकता और न जिससे इसी कारण, उनके प्रचार-कार्य में किसी प्रकार की समुचित सहायता ही ली जा सकती है। दखिनी हिन्दी वा 'हिंदवी' के सर्वप्रथम कहे जाने वाले प्रेमाख्यान 'कदमराव पदम' के विषय में हमें यथेष्ट विवरण उपलब्ध नहीं है। केवल इतना ही बतलाया जाता है कि इसकी रचना सन् १४५७ ई० में हुई होगी जो समय उक्त 'चंदायन' के रचना काल से प्रत्यक्षतः पीछे चला जाता है। इसके अनंतर लिखे गए ऐसे प्रेमाख्यानों में से 'कुतुब मुश्तरी' का आधार उसके कवि ने अपने समय के शाहजादा मुहम्मद कुली की एक प्रेम-कहानी को प्रायः उसी प्रकार बनाया है, जिस प्रकार उत्तरी भारत के अमीर खुसरो ने अपनी 'दुवल देवी व खिज्रखां' नामक फ़ारसी रचना का निर्माण करते समय किया था और यह लगभग उसी प्रकार, उसे एक विचित्र काल्पनिक रूप देने तथा मसनवी शैली में ढालने का भी प्रयत्न करता है। इसके सिवाय उसके अनंतर जो प्रेम-गाथा 'चन्दर बदन व महियार' नाम से लिखी जाती है उसमें लोक जीवन को चित्रित करते समय भी इस्लाम धर्म की महत्ता सिद्ध की जाने लगती है। अतएव हमें यह बात कुछ विचित्र-सी भी लग सकती है कि एक ओर जहाँ उत्तरी भारत का सूफ़ी-प्रेमाख्यान कवि मुल्ला दाऊद अपने निकट उपलब्ध होने वाले अमीर खुसरो के रचनादर्श का अनुसरण न करके इधर की भारतीय परम्परा को प्रश्रय देता है, वहाँ दखिनी हिंदवी के वैसे कवि उसका पालन अधिक दूरवर्ती होते हुए भी, प्रायः अक्षरशः करने लग जाते हैं। ये लोग संभवतः अपने क्षेत्र में प्रतिष्ठित वैसी परम्परा की ओर से भी आंखें मूंद लेना ठीक समझते हैं जो नल एवं दमयंती तथा उषा एवं अनिरुद्ध अथवा रुक्मिणी एवं कृष्ण की पौराणिक कथाओं को लेकर प्रतिष्ठित थी और जो उनके निकट बोली जाने वाली कन्नड़ एवं मराठी भाषाओं में संस्कृत के आधार पर लिखी जाने वाली प्रेम-गाथाओं के कारण, उनके कुछ पहले से ही चल निकली थी। परंतु उत्तरी भारत के एक दरबारी कवि फ़ैजी का ध्यान अपनी फ़ारसी की रचना के लिए भी, उनकी ओर आपसे आप आकृष्ट हो जाता है और वह अपनी उस 'नल दमन' नामक मसनवी की रचना कर देता है जिसकी चर्चा इसके पहले भी की जा चुकी है।

एक अप्रकाशित रचना

प्राकृतछन्दकोश

श्री देवेन्द्र कुमार जैन

प्रस्तुत रचना में प्राकृत छन्दों का विवरण मिलता है। इसमें कुल ७८ छन्द है। इसमें कुछ ऐसे भी छन्द हैं जो 'प्राकृत-पैंगलम्' में नहीं मिलते। प्राकृतछन्दकोश में उपलब्ध छन्द है—सोमकान्त, दोधक, मुत्तियदाम, तोटक, कामिनीमोहन, जयवहुल, मेणाउल, छ पर, रोडक, नाराच, डामर, डुमिला, बिहाणा, गीता, विजय, वेसरु, दोहा, आइल्ल, सोरठा, चूलिया, उवचूलिया, उग्गाहा, रसाउल, दण्डक, कुण्डलिया, चन्दायण, वेराउल, दुवई, वस्तुक, पद्धड़ी, चउपई, कुण्डलिनी, चन्दायण (२), लघुनउपई, अडिल्ल, भिन्न अडिल्ल, घत्ता, मोहाणी, इकठियाण, पवाणी, पयावली, मालवी, पमावती, गाथा, नाराच, एकावली, चूडामणि, मालाईय, लच्छी, किति, कन्ती, गगा, गंधव्वी, गोरी, तरंगिनी, तारा, किन्नरी, जुन्हा, वीणा, सिद्धि, रिद्धि, बुद्धि, माला, बाला, हंसी, वीणा, वाणी, तरंगिनी (२), खोणी, लीला, ललिया, रम्भा, गील, उपगीत, वम्भाणी, मागही, मेहा और उग्गाहिणी। इनके अतिरिक्त गाथा के भेदों में विप्रिणी, शूद्रिणी, क्षत्रिणी और वैश्य गाथाओं के नाम और लक्षण भी मिलते हैं। इसकी एक दूसरी प्रति में गाथा के प्रस्तार भेद के अनन्तर पथ्यानाम गाथा, मुखचपला, जघनचपला, चपला नामक भेद दिखाई देते हैं। पश्चात् विगाथा, गीति, उपगीति और उपगाहिणी के भी लक्षण दिए गए हैं। 'प्राकृत पैंगल्म्' में कामिनी मोहन, जय-वहुल, मेणाउल, विहाणा, विजय, वेसरु, आइल्ल, उवचूलिया, रसाउल, चन्दायण, वेराउल, वस्तुक, कुण्डलिनी, मोहणी, इकठियाण, पवाणी, पयावली, एकावली, चूडामणि, मालाईय, लच्छी, किति, कन्ती, गंगा, गंधव्वी, गोरी, तरंगिनी, तारा, किन्नरी, जुन्हा, वीणा, सिद्धि रिद्धि, बुद्धि, माला, बाला, वाणी, तुरंगिनी, खोणी, लीला, ललिया, रम्भा, गील, उपगीत, वम्भाणी मागही, मेहा और उग्गाहिणी छन्द नहीं मिलते हैं। इसी प्रकार 'प्राकृतपैंगलम्' के मात्रिक वृत्तों में से उल्लाला, चउबोला, रड्डा, झुल्लण, मरहट्ठा तथा अहीर और वर्णवृत्तों में से महालच्छी, कमला, तोमर, सुन्दरी आदि छन्द 'प्राकृतछन्दकोश' में नहीं हैं। इस रचना के लेखक का नाम '[illegible]इ' लिखा मिलता है।[1] इसके सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है किंतु आगरा के भण्डार से प्राप्त दोनों प्रतियों के [illegible] से प्रतीत होता है कि लेखक जैन

था।[1] प्राकृत भाषा में कई छन्दकोशों का पता लगता है। श्री अगरचन्द नाहटा ने 'छन्दकोश और शील-संरक्षणोपाय' शीर्षक से प्राकृतछन्दकोश के सम्बन्ध में सूचना दी थी।[2] वह बम्बई यूनिवर्सिटी जर्नल के मई, १९३३ के अंक में प्रकाशित हुआ था। उसे डब्ल्यू सुब्रहिम ने प्रकाशित कराया था। उसके लेखक का नाम रत्नशेखर सूरि है। इसके अतिरिक्त प्राकृत में 'छन्दशतक' और 'छन्द-कोश' का भी पता लगता है। पाटण के भण्डार मे 'छदोरत्नावली' और 'छदकोश' मिलते हैं। अन्य भण्डारों में भी इनकी प्रतियाँ उपलब्ध हो सकती है।

उपलब्ध 'प्राकृतछन्दकोश' की एक प्रति में सात पत्र हैं और दूसरी में तेरह। अत्यल्प-काय होने पर भी इस रचना का महत्त्व है। यद्यपि इसमें कुछ वर्णिक वृत्त भी है पर उन सबका लक्षण मात्रिक वृत्तों के अनुसार ही दिया है। यह पृथक् तथा स्वतन्त्र रूप में मात्रिक छन्दों का कोश है। सम्भवतः भारतीय छन्दशास्त्र की परम्परा में यह प्रथम रचना है जो लौकिक छन्दो का अभिधान केवल मात्रिक वृत्तों में उपस्थित करती है। कुछ छंदों के नये नाम भी मिलते है, जसे—रोला को रोडक, पज्झटिका को पद्धड़ी, दुर्म्मिल को डुमिला, द्विपदी को दुवई, नाराच को सामकांत आदि। हिन्दी के कुछ छंदों के विकास का सम्बन्ध इनसे सीधा जोड़ा जा सकता है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं के समान ही साहित्य का विकास विभिन्न तथा विविध विधाओं मे हुआ है। जब से प्राकृत साहित्य की माध्यमिका बनी होगी कदाचित् तभी से भाषा, छन्द, अलंकार और शैली की नवीन वृत्तियों का समावेश स्वतंत्र रूप से भारतीय-साहित्य के चलन मे आया होगा। छन्दों के विकास की परम्परा का अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

साहित्य की भांति छन्द का भी प्रथम दर्शन हमें वेदों मे मिलता है। वेदों के मन्त्र जिस अनुक्रम मे लिखे गये हैं वे वस्तुतः स्वरसंगीत पर आधारित है। इस रचना-विशेष के कारण उन्हे 'छन्दस्' कहा जाता है। छन्द सहित वाणी को 'छान्दस्' कहते हैं। यही आगे चलकर वेदों के अर्थ मे रूढ़ हो गया। 'छान्दस्' का अर्थ 'वेद' ही समझा जाता है जैसे 'प्रणव' से अभिप्राय 'ओङ्कार' लिया जाता है। परन्तु दुर्गादास ने प्रणव का अर्थ ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रय किया है[3]। 'छन्दस्' से ही 'छन्द' शब्द बना है। संस्कृत में छन्द शब्द का अर्थ अभिप्राय तथा अधीन भी है।[4] आचार्य

---

१. आर्योपणदिट्ठयाणं सुरनरतिरियाण हरिह संजणणी।
सरमरसवन्नछन्दा सुमहत्था जयऊ जिणवाणी॥—प्राकृत छन्दकोश

२. देखिए, 'अनेकान्त', वर्ष १४, किरण ६, पृ० २०३

३. अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः।
मकार उच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः॥

४. "छन्दो वशेऽप्यभिप्राये"—मेदिनीकोश तथा "छन्दस् पद्ये च वेदे च"—वही।
"छन्दोऽभिप्रायं आकूतं, मतभावाशया अपि"—अभिधानचिन्तामणि
तथा—स्वाध्यायः श्रुतिराम्नायश्छन्दो वेदस्त्रयी पुनः।
ऋग्यजुः सामवेदाः स्युरथवा तु तदुद्धृति ॥२४९॥—अभि० चि०

पिंगल के नाम पर इसे पिंगल तथा [illegible] कहा जाने लगा बस यह वृत्त नाम से प्रसिद्ध है

पद में वर्ण और स्वर मुख्य होते हैं क्योंकि ये ही शब्द-रचना के मूल हैं। यदि हम पद को अक्षरमय मानें तो वैदिकवृत्त वर्णमय हैं। मुख्य वैदिक छन्द हैं—गायत्री, अनुष्टुप्, जगती, त्रिष्टुप्, पङ्क्ति, बृहती और उष्णिक्। इन वैदिक सात छन्दों में से सूत्रकार पिंगल ने सबसे पहले गायत्री छन्द का उल्लेख किया है।[2] ये वर्णवृत्त है। गायत्री में आठ-आठ अक्षर के तीन चरण होते हैं। अनुष्टुप् के चारों चरणों में आठ-आठ अक्षर होते हैं। जगती बारह अक्षरों का चार पाद का छन्द होता है। त्रिष्टुप् के एक पाद में ११ और कुल मिलाकर ४४ अक्षर कहे गये हैं। पंक्ति छन्द के पहले के दो पाद बारह-बारह अक्षरों के तथा दो चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं, जिसमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पाद आठ-आठ अक्षरों का तथा तृतीय पाद बारह अक्षरों का होता है। वह बृहती छन्द है। उष्णिक् छन्द में २८ अक्षर होते हैं। इसमें आदि और अन्त का चरण आठ-आठ अक्षरों का होता है और मध्य में बारह का। इनमें तनिक परिवर्तन कर देने से एक ही के कई भेद हो जाते हैं।

यदि हम गायत्री को सर्वप्राचीन छन्द मान लें तो चरणों का विकास सरलता से समझ में आ जाता है। ऋग्वेद का चतुर्थ भाग गायत्री छन्द में निबद्ध कहा जाता है। गायत्री और उष्णिक् में तीन पंक्तियाँ होती हैं, शेष छन्दों में चार। प्रातिशाख्यों में 'गायत्री' का नाम 'उत्कीर्लि' मिलता है। डा० वेलणकर ने तीन मुख्य छन्दों (अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती) का उल्लेख किया है।[3] उनके मत में इन तीनों से ही तैंतीस या इससे भी अधिक छन्द बन गये हैं। किन्तु 'छन्दशास्त्र' में स्पष्ट रूप से गायत्री को सबसे पहला छन्द कहा गया है।[4] वैदिक छन्दों की विशेषता अक्षर-परिमाण में निहित है। मात्रिक छन्दों का प्रयोग परवर्ती प्रभाव कहा जा सकता है। जिसमें नियत वर्णों का समावेश होता है उसे वृत्त कहते हैं तथा नियत मात्रा वाला पद्य 'जाति' कहा जाता है। प्राचीन मान्यता के अनुसार पद्य जातवृत्त और जाति दो भेद होते थे।[5] किन्तु परवर्ती विकास में मात्रा तथा अक्षरों की नियत संख्या से सामान्य रूप का ही बोध होने लगा था, इसलिए उसे 'छन्द'

---

१. वृत्तोऽधीतेऽप्यतीतेऽतिवर्तुलेऽपि वृते मृते।
दृढेऽन्यलिङ्गं वा क्लीबं छन्दश्चारित्रवृत्तिषु।।—मेदिनीकोश
दे०, अनेकार्थसंग्रह श्लो० २०१

२. दे०, पिं० सू० २-२

३. दे०, 'जयदामन' की भूमिका, पृ० १५, सम्पादक एच० डी० वेलणकर।

४. "तान्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यः।"—२।१४

तानीति छन्दांसि गायत्र्याः पुरस्तात् उष्णिग्-अनुष्टुब्-बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुब्-जगत्याख्यानि क्रमेण भवन्ति। सूत्रात्प्राग्यदुच्यते छन्दः, तद्गायत्रीसंज्ञं वेदितव्यम्।—दे० 'छन्दशास्त्र', आचार्य पिंगल, व्याख्या—हलायुध भट्ट।

५. पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत्।—नारायण
"पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति त्रिधा"—अग्निपुराण ३३७

के नाम से अभिहित किया जाने लगा था। उसमें वर्णिक तथा मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों क समाहार होता था। वैदिक और लौकिक छन्दों के अतिरिक्त जनसामान्य में प्रचलित कुछ छंद का भी उल्लेख मिलता है। लौकिक छन्दों के तीन भेद हैं[1]---गणछन्द, मात्राछन्द और अक्षरछन्द

यद्यपि यह कहा जाता है कि लौकिक छन्दों की उत्पत्ति वैदिक वृत्तों से हुई है, किन्तु अध्ययन करने से पता लगता है कि वृत्त तथा जाति बन्धों से हटकर समय-समय पर नवीन बन्ध एवं छन्दों का प्रयोग साहित्य में होता रहा है। कुछ ऐसे छन्दों का भी पता लगता है जो लय तथा राग-रागिनियों के अनुकूल ढलकर लोक-बोलियों में गाये जाते रहे हैं।

लौकिक छन्दों में अनुष्टुप् सबसे प्राचीन माना जाता है। यह अष्टवर्णात्मक छन्द है। वैदिक अनुष्टुब्[2] से इसका विकास कहा जा सकता है। गायत्री और अनुष्टुब् का विकास एक जैसा हुआ है। अनुष्टुप् या अनुष्टुब् गायत्री के समान ही जगती तथा वंशस्थ (दोनों में ४८ अक्षर होते हैं) एवं त्रिष्टुप् तथा उपजाति (दोनों में ४४ अक्षर मिलते हैं) में साम्य लक्षित होता है। अनुष्टुप् को 'श्लोक' भी कहते हैं। आगे चलकर यह रूढ़ हो गया। इससे पता लगता है कि लौकिक छन्दों का विकास वैदिक वृत्तों के आधार पर हुआ है। वैदिक छन्दों में १०६ अक्षरों तक के वृत्त मिलते हैं। यजुर्वेद में चार सौ अक्षरों का 'उत्कीर्ति'[3] नामक छन्द मिलता है। किन्तु प्राकृत की गाथा (गाहा) का उनमें कोई उल्लेख नहीं है। 'गाहा' शब्द से प्राकृत छन्द का बोध होता है। यह मात्रिक है। मात्रिक वृत्तों में यह पहला छन्द माना जाता है। इसके प्रथम चरण में १२, द्वितीय में १८, तृतीय में १२ तथा चतुर्थ में १५ मात्राएँ होती हैं।[4] लौकिक संस्कृत में यह 'आर्या' नाम से ख्यात है। दोनों के लक्षण समान हैं। 'छन्दशास्त्र' में आर्या के ८० भेद वर्णित हैं।[5] स्पष्ट है कि प्राकृत का 'गाथा' तथा संस्कृत का 'आर्या' छन्द समानान्तर रूप से विकसित हुए हैं, केवल नाम में भेद है। किन्तु परवर्ती विकास में दोहा का अधिक प्रचलन रहा है। प्राकृत और अपभ्रंश मे 'दूहा' व्यापक रहा है। इसके प्रथम पाद में १३, द्वितीय में ११, तृतीय में १३ तथा चतुर्थ में ११ मात्राएँ कही गयी हैं।[6] इसी प्रकार ६४ मात्राओं का 'दोधक' छन्द 'प्राकृतछन्दकोश' में वर्णित

---

१. आदौ तावद् गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्ततः परम्।
तृतीयमक्षरच्छन्दश्छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम्॥

२. "अनुष्टुबगायत्रैः",---३।२३, छन्दःशास्त्र,---पिंगलाचार्य
---'चतुष्पाद्' इत्यनुवर्तते। गायत्रैरष्टाक्षरैः पादैश्चतुष्पादच्छन्दः 'अनुष्टुप्' संज्ञं भवति।

३. दे०, यजुर्वेद, अ० २१, मं० ४३

४. पढमं बारह मत्ता बीए अट्ठारहेहिं संजुत्ता।
जह पढमं तह तीअं दहपंचविहूसिआ गाता॥---प्राकृत पैंगलम्, १।५४

५. देखिए, छन्द शास्त्र---पिंगलाचार्य, पृ० ५१-५८॥ ४।२३ से ४।३२

६. तेरह मत्ता पढम पअ पुणु एआरह देह।
पुणु तेरह एआरहहि दोहा लक्खण एह॥ प्राकृतपैंगलम्, १।७८
तथा---तेरह मत्ता बिसम पय, सम एगारह मत्त।
अडयालो समत्त सवि दोहा छंद निरुत्त॥ २१ प्राकृतछंदकोश

है प्राकृतपैगलम् में इसे वर्णवृत्त कहा गया है। प्राकृतछन्दकोश के मत्तियदाम, मौक्तिकदाम, तोटक, चामर, डामर) णराच, नाराच तथा अपर नाम मामवान) गाना तथा हंसी मात्रिक छन्द हैं, जबकि 'प्राकृतपैंगलम्' में ये वर्णवृत्त हैं। कुछ छन्दों में दोनों में समता तथा भिन्नता भी दिखाई देती है। 'प्राकृतछन्दकोश' का 'डुमिला' १२८ मात्राओं का छन्द है। प्रा० पैं० में भी यह १२८ मात्राओं का कहा गया है। हिन्दी के दुर्मिल छन्द में भी १२८ मात्राएँ हैं। इसी प्रकार आलोच्य ग्रन्थ का रोडक, प्रा० पैं० का रड्डा हिन्दी का रोला बन गया है। तीनों में कुल मात्राएँ ९६ ही है। दोहा का उल्टा सोरट्टा, सोरट्ठ या सोरठा कहा गया है। संस्कृत का गीति छन्द प्रा० पैं० में उग्गाहा है। इसमें ३०+३० मात्राएँ हैं।[1] किन्तु प्रा० छ० में ११+१०, ११+१० से ४२ मात्राएँ कही गयी हैं।[2] प्रा० पैं० में कुण्डलिया १४४ मात्राओं का छन्द है, प्रा० छ० में भी वह १४४ मात्राओं का है।[3] हिन्दी में दोहा और रोला के मेल से वह १४४ मात्राओं का छन्द है।[4] इसी प्रकार रोला और उल्लाला के मेल में छप्पय तथा दोहा और ष्यष्टक के मेल से अमृत-ध्वनि छद कहे जाते है। इस प्रकार तीनों में समानता है। अडिल्ल छंद में सोलह मात्रा प्रमाण मिलता है। प्रा० छ० मे इसे लघु-चउपई से निकला दर्शाया गया है। उसमें सभी मात्राएँ समान कही है। किन्तु प्रा० पैं० मे जगण का निषेध है। हिन्दी में इस छन्द के अन्त में दो लघु अथवा एक यगण रखने का नियम है किन्तु जगण का इसमें निषेध है। भिखारीदास ने इसके अन्त में भगण माना है।[5] प्रा० पैं० में इसके दो भेदों का उल्लेख तो है पर लक्षण नहीं है। लेकिन 'प्राकृतछन्दकोश' में स्पष्ट रूप से सोलह मात्राओं का 'भिन्नमडिल्ल' छन्द का विधान है। संस्कृत के कई वर्णिक छन्द प्राकृत में मात्रिक मिलते हैं। उदाहरण के लिए—माला, मालिनी, एकावली, गीति, तोटक, दण्डक, कामिनीमोहन, दोधक, नाराच, मोत्तियदाम (प्रा०पैं० में भी यह तथा दोधक वर्णवृत्त है), हंसी, चामर, विजय इत्यादि हैं। प्रा० छ० का 'मालती' छन्द संस्कृत में 'मत्तगयन्द' वृत्त नाम से ख्यात है। इसे इन्दव भी कहा गया है। प्राकृत में यह मात्रिक छन्द ही है।

हिन्दी के चौपाई, छप्पय, दोहा, रोला, दुर्मिल, सोरठा, गीति, कुण्डलिया, उल्लाला, पद्धडी या पद्धरि आदि छन्द निश्चित रूप से प्राकृत के हैं। इनके अतिरिक्त कई छन्दों का विकास अपभ्रंश में तथा परवर्ती साहित्य में उपलब्ध होता है। संस्कृत के आर्या तथा गीति, मराठी ओवी,

---

१. पुब्बद्धे उत्तद्धे मत्ता तीसंति सुहअ संभणिआ।
सो उग्गाहो वुत्तो पिंगल कइ दिट्ठ सद्दिठ मत्तंगो ॥—प्राकृतपैंगलम् १।६८

२. मत्त इग्यारह मिलिय, पुण वि दह संचलिय।
पइ पइ णिय परकलिय, गुरु वि लहु संचलिय ॥—२९, प्राकृतछन्दकोश

३. दोहा छंद जु पढम पढि, कव्वह अद्धनिरुत्त।
तं कुंडलिया बुह मुणहु, उल्लालय संजुत्त ॥—वही, ३२। प्रा० पैं० १।१४६

४. दोहा रोला जोरिकें, छै पद चौबिस मत्त।
आदि अन्त पद एक सो, कर कुण्डलिया सत्त ॥"

प्रसाद 'मान', पृ० ११०

५ देखिए वही पृ० ५४

और अभंग एवं गीत, सोरठा[1] आदि छन्दों का निकास प्राकृत तथा अपभ्रंश के मात्रिक छन्दों से हुआ है। अपभ्रंश, प्राकृत, राजस्थानी, गुजराती तथा मराठी आदि में किसी समय 'दूहा' अत्यन्त प्रचलित छन्द रहा है। रहीम का बरवै, गंग का छप्पय, तुलसीदास की चौपाई, बिहारी के दोहे तथा कवित्त एवं सवैया प्रभृति हिन्दी के जो प्रमुख छन्द माने जाते हैं, वे प्राकृत से अपभ्रंश-धारा मे होकर हिन्दी में समा गये हैं। दोहा का प्रयोग साहित्य में बहुत बाद में हुआ प्रतीत होता है। पहले पहल यह लोकभाषा में अपनाया गया होगा। सौराष्ट्र में तो स्पष्ट रूप से दोहा मौखिक परम्परा का छन्द है। 'ढोला मारू' के दोहों से भी यही लक्षित होता है। दोहों की गेयता इनका बहुत बड़ा गुण है। यहाँ की गाने वाली जातियाँ सोरठ के दोहे सोरठ रागिनी में, जमाल के दोहे काफी रागिनी में और ढोला मारू के दोहे मारू व मांड रागिनी में बड़ी ही खूबी के साथ गाती है। अतः ये दोहे संगीत और काव्य के ऐसे संगम-स्थल है जहाँ दोनों की सत्ताएँ अपनी पूर्णता को प्राप्त कर एक अलौकिक समा बाँध देती हैं[2]। दोहा अपभ्रंश का औरस छन्द माना जाता है। किन्तु अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों (पउमचरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ या हरिवंश पुराण, महापुराण णायकुमार चरिउ इत्यादि) मे इसके दर्शन नहीं होते। पद्धड़िया छन्द का प्रयोग अवश्य खुलकर हुआ है। स्वयम्भू ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने पद्धड़िया छन्द चतुर्मुख से ग्रहण किया है[3]। 'भाखा-रचनाओं' में घत्ता देने की प्रवृत्ति भी अपभ्रंश से आई है। इससे जान पड़ता है कि 'दूहा' को साहित्य में बहुत बाद में सम्मान प्राप्त हो सका है। हिन्दी के कुछ छन्दों का विकास 'दोहा' के आधार पर कहा जा सकता है। ऐसे छन्दों में सोरठा, बरवै, उल्लाला, मरहठा, चउपई, दुवई (द्विपदी), मोहनी तथा विजया आदि है। सम्भवतः 'विजय' के आधार पर पद्धड़ी बना है। विजय में ३२ मात्राएँ हैं और पद्धड़ी में ६४।[4] प्राकृत तथा अपभ्रंश के चतुष्पदी तथा सतपदी छन्दो से कई छन्दों का निकास-विकास ढूंढ़ा जा सकता है। डॉ० एच० डी. वेलणकर ने मराठी ओवी छन्द का विकास अपभ्रंश के सतपदी के भेद से माना है।[5] कुछ विद्वानों के मत में दोहा का विकास 'दोधक' से कहा गया है। किन्तु गाथा तथा आर्या की भाँति 'दूहा' स्वतंत्र रूप से चलन में आया जान पड़ता है। इसके प्रमाण में 'प्राकृतछन्दकोश' के दोहा, दोधक, आइल्ल, अडिल्ल आदि छन्द उद्धृत किए जा सकते है। यहीं नही, दोहा से सोरठा, तोमर, चूलिया, रोला, नाराच तथा

---

१. सोरठियो दूहो भलो, कपड़ो भलो सपेत।
ठाकरियो दाता भलो, घोड़ो भलो कुमेत॥

२. देखिए, 'रसराज' शीर्षक लेख, "परम्परा", पृ० १४

३. चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय"—हरिवंश पुराण ११२

४. पइ चारि ठविज्जहि ससिहि मत्त, जगण पाउहर गण जह होइ अंत।
चउसट्ठि कलेहि सव्वइ गणेहु, पद्धडिय छंदु तं बहु सुणेहु॥
—प्राकृतछन्दकोश, ३८

५. We have seen that the 'Marathi ovi' has developed out of the half of that particular kind of a Satpade, which is divisible into three shorter lines of 8 Matras each and one of 6 Matras and which is treated as a separate metre New Indian Antiquary Vol I 1938-39 Page 217

वेराउल आदि का विकास हुआ है दोधक वर्णिक वृत्त है और इसका मात्रिक दोधक में तीन भगण और दो गुरु होते हैं इसका सम्बन्ध सामकान्त तथा मौक्तिकदाम से जाना जा सकता है दोहे से नहीं। दोनों की बनावट एवं रचना भिन्न-भिन्न है। वस्तुतः मात्रिक छन्दों का मूल शास्त्रीय वृत्तों में न होकर लोक-परम्परा में सन्निहित है।

आचार्य स्वयम्भू ने दुवहअ के लक्षण में प्रथम तथा तृतीय चरण में चौदह और द्वितीय तथा चतुर्थ में बारह मात्राएँ कही हैं।[1] मेरे विचार में इसी 'दुवहअ' से हिन्दी दोहे का विकास हुआ है। हेमचन्द्र तथा कुछ अन्य छन्दशास्त्री दोहे के प्रति दल में मात्राओं की संख्या १४+१२ मानते हैं। 'दोहा' की व्युत्पत्ति 'द्विपथा' से मानते हैं। जर्मन विद्वान् याकोबी और अल्सडॉर्फ ने अपभ्रंश दोहों का बड़े विस्तार से विवेचन किया है।[2] प्राकृत की दुवई इससे भिन्न है। उसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ तथा कुल ११२ होती है। विजय में ३२ मात्राएँ हैं और पद्धड़ी में ६४। कवि-नयनन्दी ने अपने 'सकल विधिविधान' काव्य में ६२ मात्रिक तथा २० वर्णिक छंदों का प्रयोग किया है। 'सुदर्शन चरित' में मात्रिक छन्द मिलते हैं। मराठी के दिण्डी और साकी लोकभाषा के छन्द हैं। ये जन-परम्परा में अनेक रूपों में प्रचलित रहे हैं। 'गीतगोविन्द' में प्रयुक्त अधिकांश छद देशी परम्परा के हैं। उनका विकास शास्त्रीय परम्परा से हटकर हुआ है। विद्यापति ने भाषा और छन्द दोनों में ही देशी परम्परा का पूर्ण निर्वाह किया है। छन्दों की यह परम्परा हमें आगे चलकर सूरदास, कबीर और रहीम आदि में दिखाई देती है। मूलतः यह परम्परा प्राकृत से अपभ्रंश मे होती हुई हिन्दी को प्राप्त हुई है। क्योंकि अपभ्रंश युग में मात्रिक छंदों की परम्परा इतनी प्रौढ़ हो गई थी कि मात्रा छन्दों में आद्योपान्त महाकाव्यों की रचना की गयी थी। समस्त सिद्ध और जैन साहित्य जिसकी रचना नवीं शताब्दी के बाद हुई, मात्रिक छन्दों में ही लिखा गया। चौरासी सिद्ध और जैनाचार्यों की कृतियों में भी मात्रिक छंदों का प्रयोग हुआ है। उस समय तक मात्रिक छंदों का इतना प्रचार हो गया था कि संस्कृत के कवि गोवर्धनाचार्य (आर्यासप्तशती) और जयदेव (गीत गोविन्द ११वीं शताब्दी) ने वृत्तों को छोड़कर मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग किया।[3] छठीं शताब्दी से पूर्व प्राकृत-साहित्य में 'दूहाबंध' का चलन हो गया था। संभव है कि ८वीं शताब्दी के अपभ्रंश कवि चतुर्मुख की रचनाओं में भी दोहे का प्रयोग हुआ हो। अपभ्रंश भाषा की प्राचीनता के साथ ही विक्रमोर्वशीय में दोहा भी मिलता है।[4]

संस्कृत छन्दों में मात्रिक वृत्तों के तीन वर्ग हैं—द्विपदी, चतुष्पदी तथा अर्द्ध सम चतुष्पदी। वैदिक वृत्तों में ये वर्ग नहीं मिलते। संस्कृत के ये वर्ग प्राकृत छन्दों के आधार पर किए गये है। ये

---

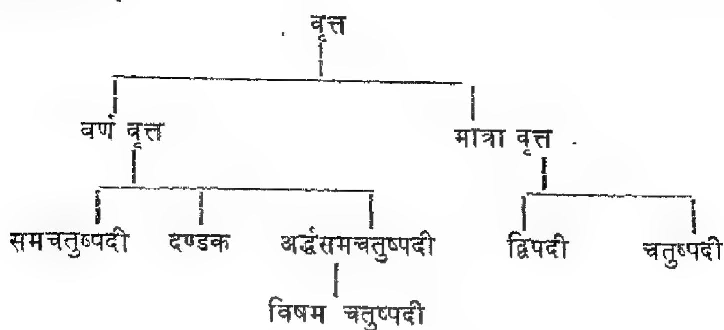
१. चोद्दहपठमतइअ [च] रणे। बारह बीअचउत्थे॥
दुवह [अ] लक्खण एत्तल्लउ। होई अवहँससतथे॥—स्वयम्भू छन्द, ७

२. दे०, 'हिन्दी साहित्य कोश', रा० सि० तो०, पृ० ३४३

३. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना—डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० १९८

४. मइँ जाणिअँ मिअलोअणी णिसअर कोइ होई।
मावणु णवत लिआयल धाराहर वरिसेइ

ताल और संगीत से समन्वित होते थे। बाद में लय पर ही मुख्य ध्यान दिया जाने लगा। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है—



स्पष्ट है कि मात्रिक छन्द दो पद में पहले पहल प्रचलित हुए। इस रूप में 'दूहा' या दोहा ही प्राचीन है। यद्यपि वर्ण के उच्चारण की दृष्टि से 'आर्या' को मात्रिक छन्द कहा गया है पर पहले पहल गाहा या गाथा का ही चलन हुआ होगा। गाथा के कई भेद आलोच्य तथा अन्य छन्द-कोशों में मिलते हैं। 'प्राकृतपैंगलम्' में दोहे के २३ भेद कहे गये हैं जिसका अत्यन्त महत्त्व है। यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि रोला दोहा से निकला है। यह चौबीस मात्राओं का चतुष्पदी छन्द है। दोहा और रोला को मिला कर लिख देने से कुण्डलिया छन्द बन जाता है। सम्भवतः चतुष्पदी से षट्पदी छन्दों का विकास हुआ है। दोहे से उल्लाला का भी जन्म हुआ है। इसके प्रत्येक पद मे तेरह मात्राएँ होती हैं।[1] रोला के चार पद तथा उल्लाला के दो पद जोड़ देने पर छप्पय बन जाता है। हिन्दी के पुराने छन्दों में दोहा, चौपाई, छप्पय, तोमर, सोरठा, सवैया इत्यादि कहे जाते है। प्राकृत के दुवई तथा चउपई छन्दों का विकास क्रमशः समान पद्धति पर हुआ है। यदि हम प्रा० छ० के दुवई तथा प्रा० पै० के चौपइआ छन्द का परस्पर मिलान करें तो दोनों में कोई अन्तर नहीं मिलेगा। २८ मात्राओं के चार चरण दोनों में समान हैं। गीति छन्द का विकास गाथा के एक भेद 'उग्गाहा' से माना जा सकता है। यह भी चतुष्पदी छन्द है। अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यो मे गीतिमूलक कई छन्दों का पता लगता है, जो लोक शैली में लिखे गये हैं। 'महापुराण' में ऐसे कई छन्द हैं। प्राकृत और अपभ्रंश में त्रिपदी छन्द का कहीं उल्लेख नहीं मिलता; किन्तु कन्नड मे सांगत्य, त्रिपदि, वृत्त, चम्पू, गीत आदि छन्दों का विशेष प्रयोग हुआ है।[2] असमी तथा गुजराती के प्राचीन साहित्य में गेय छन्दों की बहुलता है, लोकगीतों का तत्त्व उनमें रक्षित है। हिन्दी में भी लोकगीतों का चलन किसी न किसी रूप में बना रहा है। विद्यापति के अनेक पद लोकगीत मात्र हैं। भाषा-रचनाओं में दोहे के कई भेद मिलते हैं। कई रचनाये तो दोहे में ही लिखी मिलती हैं। विहारी की सतसई, ढोला मारू रा दूहा, पमीरा दूहा, अनेकार्थ ध्वनिमंजरी, तथा मानमंजरी ऐसी ही रचनाएँ हैं। 'रामरासो'[3] में २४३ दोहे, ११९

१. "उल्लाला वसु गो करी।"—छन्दःप्रभाकर

२ देखिए, हिन्दी साहित्य कोश पृ० १९१

३ कृत रामरासो एक हस्तलिखित रचना

छं[1] ६३ कवित्त २ पद श्लोक तथा गाथा चामर चापर सिरतूण ८५ रसावला २, झूलणा ७ और आरती[2] के ६ छन्द मिलते हैं।

दोहा के बाद हिन्दी में चौपाई अत्यन्त प्रचलित छन्द रहा है। चन्द, जायसी, सूर, तुलसी, सुन्दर, नन्ददास, जोधराज, भूषण, केशव, जटमल्ल, गुलाब, सूदन, गोरेलाल तथा सूफी कवियों ने स्वतन्त्र रूप से एवं दोहे के साथ इसे अपनाया है। प्राकृत तथा अपभ्रंश के नाटक, दोधक, सोमकान्त, मुत्तियदाम, पद्धड़ी, अडिल्ल, मोहाणी तथा मालाईर छन्दों की भाँति चउपई का विकास हुआ है। इसके अलग-अलग लक्षण तथा कई भेद मिलते हैं। श्री जगन्नाथप्रसाद भानु ने चौपाई के छह भेदों का विवरण दिया है। इसके विद्युन्माला, चम्पकमाला, शुद्ध विराट, मत्ता, प्रणव, अनुकूला, दोधक, भ्रमरविलसता, स्वागता, तामरस, चन्द्रवर्त्म, कुसुमविचित्रा, मालती, मोदक, नवमालिनी, कञ्जअवलि, प्रहरणकलिका, चक्र, अचलधृति इत्यादि भेद हैं।[3] ये सब चौपाइयों के ही प्रकार हैं। चौपाई के दो चरणों को अर्द्धाली कहते हैं। तीन अर्द्धालियों के साथ दोहा जोड़ कर लिखने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। जायसी तथा तुलसीदास की रचनाओं में किंचित् परिवर्तन के साथ यह पद्धति दिखाई देती है। अपभ्रंश-काव्यों में इसी प्रकार कड़वकों की रचना होती थी। दोहे के बदले घत्ता, अडिल्ल या पद्धडिया कोई भी छन्द 'कडवक' रचना में प्रयुक्त होता था। अमरकीर्ति के 'षट्कर्मोपदेश' में गाहा तथा घत्ता दोनों का प्रयोग मिलता है। 'प्राकृतपैंगलम्' में चौपइआ २८ मात्राओं के चार चरणों का छन्द कहा गया है, किन्तु प्रा० छ० में वह १२० मात्रा का छन्द है।[4] इसके अतिरिक्त 'लहुचउपई' लघु चौपाई भी मिलती है। लघु चउपई में ६० मात्राएँ कही गई है। इसी से प्राकृत के अडिल्ल[5] छन्द का जन्म हुआ है। इसी प्रकार मयणहरा से मनहरण तथा रूपघनाक्षरी, देवघनाक्षरी (कवित्त) और दुमिला से दुर्मिल, डामर या चामर इत्यादि छन्दो का विकास ढूंढ़ा जा सकता है।

छन्दों में तुकान्त की प्रवृत्ति सबसे पहले 'दोहा' में दिखाई देती है। इससे भी उसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। क्योंकि अपभ्रंश रचनाओं में ही यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। काव्यो मे, पदान्त में अनुप्रास-रचना अपभ्रंश-कविता का सामान्य गुण है। बाद मे सवैया और कवित्तों मे भी

---

१. छन्द से अभिप्राय मोतीदाम या मौक्तिकदाम से है। राजस्थानी रचनाओं में (जो हिन्दी में या मिश्रित राजस्थानी में लिखी गई हैं) 'मुत्तियदाम' को 'छन्द' लिखा मिलता है। उदाहरण है—"जोबराज रघुनन्दन दीजै, कहै राजगुरु वे घन कीजे॥"—दे०, रामदास

२. 'आरती' से अभिप्राय 'कवित्त' से है।

३. 'छन्दः प्रभाकर',—जगन्नाथ प्रसाद भानु, पृ० ५७

४. पइ पइ जिह होइ तीस धुवसत्तइ अखरडंवरजुत्तो।
चउकलधजुत्त ठवि ठाम घ (?) दुक्कलु अंति निरुत्तो॥
जहि नवइ जोणि खोणिध सुपसिद्धिय पठल घअइछंदो।
बीसोत्तर सौ मत्तिहि जो निरसी चउपईय ईह छंदो॥—प्राकृतछंद कोश, ३९

५. चउपई इक्कु जमक्कइ दीसइ, अडिल्लछंद तं वुहिय सलीसइ।
जमत्तु होइ जइ विहुपय जुत्तउ मडिल्लछंद त कुटिय निवुत्तउ —वही ४५

तुकान्त का प्रचलन सर्वमान्य हो गया। कुछ रचनाओं में तुक मध्य और अन्त में भी देखी जाती है। हिन्दी के परवर्ती छन्दों में रूपमाला, सार, गीतिका, वीर तथा झूलना आदि का नाम गिनाया जा सकता है। इन सभी में तुकान्त रचना आवश्यक है। निश्चय ही हिन्दी को अपभ्रंश की यह एक बड़ी देन है। इन छन्दों की उत्पत्ति और विकास पर स्वतन्त्र रूप से एक प्रबन्ध लिखा जा सकता है। यह एक शोध का विषय है। अभी तक ऐसी कई अप्रकाशित रचनाएँ हैं, जिनके अध्ययन से कई नए तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं। आशा है, इस ओर भी अन्वेषकों का ध्यान जायगा, जिससे अधिक से अधिक सामग्री प्रकाश में आ सकेगी।

भारतवर्ष की लगभग सभी प्रादेशिक भाषाओं का प्रारम्भिक साहित्य देशी बोल-चाल की भाषा तथा गेय छन्दों में लिखा गया है। भाषा-समता की भाँति उनके छन्दों में भी समानता ढूँढ़ी जा सकती है। इस तुलनात्मक दृष्टि से आज हिन्दी साहित्य के विविध अंगों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है क्योंकि लोकधर्मी रचना किसी युग, प्रदेश तथा परिस्थिति-विशेष में जन्म लेकर भी परिवर्तित एवं विकासशील बनी रहती है। उसके अनुकरण पर अथवा समानतामूलक कई रचनाएँ पार्श्ववर्ती युग-विशेष तथा प्रदेशों में लोक-प्रवाह की भाँति दृष्टिगोचर होती है। इसलिए उनका तुलनात्मक मूल्यांकन एवं अध्ययन कर लेने पर ही काल-विशेष की प्रवृत्ति का निर्धारण तथा नामकरण सम्भव है। इस प्रकार का अध्ययन हिन्दी साहित्य के वास्तविक इतिहास के आलेखन में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। अतएव हिन्दी के शोध-कार्य में ऐसे विषयों को अधिक महत्त्व एवं बल देना चाहिए।

प्राचीन भारत में क्रीडाएँ

डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

प्राचीन भारत का अंत गुप्त साम्राज्य की इतिश्री के साथ हो गया। गुप्त साम्राज्य का सूर्यास्त हो जाने के अनन्तर भारतवर्ष मे अनेक स्वतंत्र राजवंशो की स्थापना हुई। इन्ही राजवंशो मे पश्चिमी चालुकों एवं सोलंकियों के अत्यन्त प्रभावशाली तथा विस्तृत राज्य की भी संस्थापना हुई। चालुक्य वंश के शासक बड़े ही विद्वान् तथा वीर व्यक्ति हुए। इन्हीं शासकों में महाराज सोमेश्वर (तृतीय) विशेष प्रतिभाशाली, विद्वान्, कवि, गुणज्ञ, कलापारखी तथा बहुपठित थे। वीरता में इनकी समता करने वाले बहुत कम शासक थे। महाराज सोमेश्वर संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् तथा दार्शनिक भी थे। उनकी ख्याति का मुख्याधार है 'मानसोल्लास'।

'मानसोल्लास' भारतीय संस्कृति का परिचायक एक श्रेष्ठ एवं मौलिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में विशुद्ध हिंदू-संस्कृति अत्यन्त अनूठे रूप में अभिव्यक्त हुई है। यह ग्रन्थ विशुद्ध हिन्दू परम्पराओं का अंतिम पृष्ठ है। चालुक्य वंश के शासक तथा उस समय तक भारतीय संस्कृति, मुसलमानों के सम्पर्क से पूर्णतया अछूती रही। इस राजवंश का अवसान, मुसलमानों के अभ्युदय के पूर्व ही हो गया। सन् १२०० ई० के लगभग जब चालुक्य वंश के अंतिम शासक सोमेश्वर शासन कर रहे थे, उसी समय यादवों ने इनके राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया तथा होयसलो ने दक्षिणी भाग पर आधिपत्य संस्थापित कर लिया। इस प्रकार चालुक्य वंश का अंत हो गया। 'मानसोल्लास' का वर्ण्य-विषय बड़ा व्यापक एवं उपयोगी है। महाराज सोमेश्वर की दृष्टि सामान्यतया राज्य जीवन तथा राजनीति पर ही केन्द्रीभूत रही है; परन्तु इतना होने पर भी ज्ञान-विज्ञान के अनेक महत्वपूर्ण प्रसंगों की ओर भी उनका ध्यान गया था। ज्योतिष, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र, पाकशास्त्र आदि विज्ञान, वास्तुकला, चित्रकला, संगीत आदि ललित कलाओं का विद्वत्तापूर्ण वर्णन तथा प्रामाणिक विवेचन 'मानसोल्लास' में हुआ है। इन वर्णनो से महाराज सोमेश्वर का व्यापक ज्ञान, अध्ययन तथा असामान्य चिन्तन प्रतिभासित होता है। 'मानसोल्लास' में निषिद्धाचारण, विहित कर्त्तव्य, उपभोग, विनोद एवं मनोरंजनों तथा क्रीड़ाओं का भी व्यापक, प्रभावशाली विद्वत्तापूर्ण वर्णन है। 'मानसोल्लास' में वर्णित ये क्रीडाएँ तथा मनोरंजन प्राचीन भारत की महान् परम्पराओं को उद्घाटित करने के साथ ही रोचक तथा सांस्कृतिक उत्कर्ष को भी प्रकट करते हैं। क्रीडाओं तथा मनोरंजनों के प्रविधि वर्णन, महत्व, प्रकार, रसोत्कर्ष, आनन्द तथा उल्लास की चर्चा को पढ़ते-पढ़ते उस युग के स्पृहणीय जीवन बड़े आकर्षक लगते हैं।

प्राचीन भारत की अनेक क्रीडाओं का वर्णन मानसोल्लास में हुआ है जिनमें से कतिपय हैं

१. भूधर क्रीडा, २. वन क्रीडा, ३. आदोलन क्रीडा, ४. सेचन क्रीडा, ५. सलिल क्रीडा ६ शारवल क्रीडा, ७. वालुका क्रीडा, ८. ज्योत्स्ना क्रीडा, ९. सख्य क्रीडा, १०. मधुपान क्रीडा ११. प्रहेलिका क्रीडा, १२. चतुरग क्रीडा, १३. पाशक क्रीडा, १४. वराटक क्रीडा, १५. फणीन्‍ क्रीडा, १६. पजिका क्रीडा, १७. तिमिर क्रीडा, १८. वीर क्रीडा, १९. प्रेम क्रीडा तथ २०. रति क्रीडा।

उपर्युक्त विषयों को ध्यानपूर्वक देखने से उनकी विविधता और विस्तृत क्षेत्र का आभास मिलता है। ये क्रीडाएँ राजा एवं प्रजा दोनों में प्रचलित थी। जहाँ साधनों का बाहुल्य होता था, वहाँ इनका आयोजन विधिपूर्वक होता था। महाराज सोमेश्वर ने इन सब का अनुभव स्वत किया था, अतः उनके वर्णन बड़े यथार्थ तथा सच्चे हैं। अब हम एक-एक क्रीडा को लेकर उसकी प्रक्रिया तथा प्रविधि पर विचार करेंगे।

भूधर-क्रीडा

यह क्रीडा राजा के प्रासाद में ही खेली जाती थी। इसको कार्यान्वित करने के हेतु प्रासाद में एक ओर उच्च-उच्च, भाँति-भाँति के वृक्ष लगाए जाते थे और उनके मध्य मे एक उच्च शृंगों से युक्त क्रीडा पर्वत था। इस वन में सभी मासो मे पुष्पित एवं फलित होने वाले वृक्षों का वर्णन किया गया है। उपवन में बोये तथा आरोपित प्रत्येक वृक्ष के मध्य १६, ११, ८ तथा १४ हाथ का अंतर रहता था। वृक्षों को शोभा युक्त बनाने के हेतु ४ हाथ का गहरा थाला खोद कर उसमें बालुका, मिट्टी, अस्थि, करीष, अजा का मांस एवं चर्बी भर कर पानी डाल दिया जाता था और उसमें अशोक, निम्ब, पुन्नाग, बबुल, नागकेसर, सिरीष आदि वृक्ष लगाए जाते थे, कारण कि ये वृक्ष, यश, आरोग्य, विजय एवं बुद्धि-वर्द्धक थे। पलाश, कचनार, अर्जुन आदि लगाना यहाँ वर्जित था। हेमंत तथा शिशिर में एक दिन के अंतर से इन्हें सिंचित करने का व्यवधान था। सोमेश्वर ने लिखा है कि किस प्रकार वृक्षों को दीर्घायु, स्वस्थ तथा बड़े फल वाले बनाने के लिए क्या क्या उपाय और कर्तव्य हैं। उदाहरणार्थ, शफरी मछली, घृत, सिद्धार्थ तथा कदली दल को मिला कर उसका धुआँ देने से वृक्ष मधुर तथा अधिक मात्रा में बड़े-बड़े फलों को उत्पन्न करने वाले होते थे। घृत, शुक तथा कुरंग की चर्बी को अंकोल तेल से मिला कर सिंचित करने से वृक्ष सदैव फलों से लदे रह सकते हैं। इसी प्रकार महाराज सोमेश्वर ने अनेक प्रकार से वृक्षारोपण, बीजारोपण, और उनके सिंचन तथा खाद देने की प्रविधि का बड़ा व्यापक, तत्वपूर्ण तथा ज्ञान से ओतप्रोत वर्णन किया है। इतने सुन्दर क्रीडा पर्वत के निमित्त हो जाने के अनन्तर राजा शृंगार कर के, प्रसन्न करने वाले विटो, अपनी विशेष प्रेयसियों तथा पण्डितों के साथ श्रेष्ठ वाहनों पर सब को बैठा कर तथा स्वत किंकिणियों युक्त श्रेष्ठ गजराज पर आसीन होकर, चमर, छत्र से सुशोभित क्रीडा पर्वत पर लीला के साथ आता है। उस पर्वत पर दिव्याङ्गनाओं से घिरा तथा पुरजनों के साहचर्य से वह अनेकानेक प्रकार के कंदमूल फलों का भक्षण करता था। इसके अनन्तर परिजनों को वस्त्र, कंचनादि दान कर के वह किसी रमणीय वृक्ष की छाया या सुरम्य सरिता तट पर या जलाशय के निकट रमणियों के साथ रमण करता था इस समय रमणियाँ मधुर गान करती थीं और नृत्य भी होता था। इस प्रकार राजा अत्यधिक आनन्द करता था

राजते पृथ्वीनाथ
कदाचित्पादपच्छाय कदाचित्लतातले ॥
कदाचित्सरसीतीरे क्रीडति क्षितिवल्लभः।
गाययेत्कलकं गीतं वर्तं ल्ललनांगना ॥
हासयस्तरुणी वृंदमानन्दं परमाप्नुयात् ॥—मानसोल्लास ५।१।१२२-१२४

सायंकाल राजा क्रीडा को समाप्त कर के, गजराज पर आसीन होकर प्रेयसियों सहित प्रासाद में लौट आता था। भूधर क्रीडा राज महल की सीमा के अन्तर्गत ही मनोरंजन का साधन थी। विष्णु स्मृति, रघुवंश, मेघदूत आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों में भी इस क्रीडा का भव्य रूप वर्णित है।

वन-क्रीडा

सोमेश्वर (तृतीय) ने 'वन क्रीडा' का भी सविस्तार वर्णन किया है। शिशिर के अंत में राजा वनक्रीड़ा हेतु वन की ओर प्रस्थान करता था। सुगंधित पुष्पों के पराग से संयुक्त शीतल, मंद, सुगंधित वायु के प्रवाहित होने पर, नारियों का हृदय उल्लास से सम्पन्न होने पर, कोकिल के पंचम स्वर से कूजने पर, माधवी लता के सुशोभित होने पर; सुंदर क्रमुक पंक्ति, नीरंगफल, कटक युक्त पनस वृक्ष, कदली खण्ड, जम्बु वृक्ष, दाडिम, लवंग, खर्जूर, मालिका, हरिद्र, भृंग, केतकी, सीरिका आदि वृक्षों तथा कुल्या, तडाग एवं कूप से पूर्ण द्राक्षालता द्वारा विनिर्मित मंडप से शोभित नन्दन वन के समान सुन्दर वन में राजा 'वनक्रीड़ा' करने जाता था (मान० ५।२। १२९-१४९)। वनक्रीड़ा में राजा के साथ प्रेयसियाँ भी विद्यमान रहती थीं। ये प्रेयसियाँ नील कमल के सदृश नेत्र वाली, दाडिम सदृश दांत वाली, सिरीष पुष्प के समान मृदु बाहु वाली, पल्लव सदृश हाथ वाली, तथा मराल सदृश गति सम्पन्न होती थीं। परिहास कुशल, मनोरंजन करने मे समर्थ, गीत-वाद्य में निपुण कलाकार तथा विदूषक भी राजा के साथ रहा करते थे। वन-क्रीडा के समय राजा सुन्दर अश्व पर चढ़ता था और सब उसका अनुगमन करते थे। वन भूमि मे वह वन की दिव्यता की ओर संकेत करता था। अत्यंत सुरम्य भूमि में विनिर्मित आश्रम मण्डप मे प्रेयसियों के साथ बैठ कर राजा श्रम हरण करता था। तदनन्तर राजा गुह्य तथा गुप्त स्थानो मे लुक-छिप कर, वन प्रदेश में दौड़ कर, दिव्यांगनाओं के साहचर्य में 'लुकाछिपी' खेलता था। इसके अनन्तर जलाशय के स्वच्छ जल में राजा सुन्दरियो के साथ हस्त-पाद-मुख प्रक्षालन करता था। स्त्रियाँ कदली दल को हिला कर राजा का श्रम दूर करती थीं।

प्रक्षाल्य वक्त्रं पादौ कदलीफलवीजनैः।
वीजयन्ति नृपं कांताः कामिन्या कागर्वापिता ॥ मा०—५।२।१६२

इसके अनन्तर राजा फलों का पान तथा नारिकेल के मधुर जल को ग्रहण करता था। सब को यथास्थान बैठा कर राजा अपनी प्रेयसियों को पुगीफल से युक्त मधुर, सुस्वाद ताम्बूल भेंट कर के स्वयं भी ग्रहण करता था। ताम्बूल चर्वण के अनन्तर राजा चंदन के गोंद तथा कर्पूर मिश्रित लेप को अपने शरीर पर ——— था। शृंगार कर लेने के अनन्तर फिर वह सुंदरियों के मध्य पुष्पो से युक्त विहार करता था

भागवतपुराण (१।६५।१८-२१), स्कन्दपुराण (ललित विस्तार १४।१८३-१९१), कामसूत्र (सूत्र २६) में भी इस क्रीडा का वर्णन है।

आन्दोलन-क्रीडा

इस क्रीडा का प्रचलन भी सोमेश्वरकालीन समाज में था। इसके द्वारा जन-मनोरंजन होता था। यह स्त्रियों के मनोरंजन का विशेष साधन माना जाता था। ऋतुराज के आगमन पर यह क्रीडा सम्पन्न होती थी—

ऋतुराजे परिप्राप्ते वसन्तेति मनोहरे।
आन्दोलने प्रकुर्वीत पृथुसंवद्धयान्वितम् ॥—मा० ५।३।१८४

ऋतुराज के आगमन पर झूलों का आयोजन होता था। पौर्णमासी की रात्रि को चंद्रोदय हो जाने पर समस्त शृंगारों से सम्पन्न राजा सुंदरियों के साथ झूले पर झूलता हुआ आनन्द करता था। राजा के झूलने के पूर्व तूर्य नाद होता था, वदीगण वंदना करते थे, ब्राह्मण लोग आशीर्वाद पाठ करते थे।

महता तूर्यघोषेण वंदी वदेन वंदितः।
गीतवाद्य विनोदक विप्राशीभिरभिष्टुतः ॥
आरोहेच्चतमान्दोतं प्रेयसिभिः समन्वितः ॥—मा० २।३।१८४

झूले पर चढ़े हुए राजा की सब अंजलिवद्ध करों द्वारा वंदना तथा ऐश्वर्य वर्णन करते थे। राजा सब जनों को वस्त्राभूषण दान देता हुआ रमणियों के साहचर्य में आनन्द प्राप्त करता था। इस प्रकार वह अप्सराओं से घिरे हुए देवराज के समान कांति को प्राप्त करता था।

स्तूयमानवस्तदा राजा राजते देवराजवत्।
संतर्प्य प्रिये. . . . . .वस्त्र विभूषणैः ॥
ब्राह्मणान्गायकादीश्चैतत् सर्वस्वसर्जितः।
ततः काता जनैः सार्ध क्रीडादांदोलकै नृपः ॥—मा० ५।३।१८५

झूले में राजा पटरे के मध्य में बैठता था। दोनों ओर सुंदरियाँ उसे अपने सम्पर्क द्वारा आनन्द प्रदान करती थीं। झूले पर बैठा हुआ राजा अपनी भुजाओं में रमणियों की भुजाओं को फँसा कर आनन्द लेता था। प्रेयसियाँ कोकिला के स्वर में संगीत गाती थीं। झूला मंथर गति से चलता रहता था।

प्राचीन भारत में वर्षाऋतु का सब से सम्मोहक मनोविनोद झूला रहा है। वर्षा के आगमन के साथ ही तरुणियां एवं पुरुषों के हृदय मेघों के साथ उमड़ पड़ते थे और मेघनि स्वन तथा घटाओं से प्रस्फुटित रिमझिम के साथ स्वहृदयों के उद्गारों को दोला-विलास द्वारा प्रकट करते थे। सोमेश्वर (तृतीय) ने वसंत में 'दोला विलास' प्रथा का वर्णन किया है। स्कन्द पुराण वैष्णव खण्ड उत्कल खण्ड में दोलोत्सव का काल फाल्गुन उल्लिखित है

मे भी इसका वणन मिलता है वात्स्यायन ने दोला विश्राम का वणन निम्नलिखित रूप मे किया है —

स्वास्तीर्णो प्रसादोला वृक्षवाटिकायां सप्रच्छाया।
स्थंडिलपीठिका च सुकुसुमेति भवन विन्यासः।—सू० १५

जल्हण ने भी इसका व्यापक एवं स्पष्ट वर्णन किया है। (देखिए, सूक्ति मुक्तावली ६५।२९)। प्राचीन काल से चला आता हुआ मनोविनोद भारत में आज भी प्रचलित है।

सेचन-क्रीडा

यह क्रीड़ा वसंतोत्सव, विवाह, विजय आदि अवसरों पर होती थी। सोमेश्वर (तृतीय) का आदेश है—

वसन्तस्योत्सवे वाद्यविवाहाद्युत्सवेषु च।
जये चासेचनक्रीडां कुर्याद्राजा मुदान्वितः॥—भा० ५।४। २०१

भोजन के अनन्तर दो प्रहर दिन व्यतीत कर राजा, प्रतीहार द्वारा कुमार मंडलाधीश, सामत, पुरोहित, अमात्य, सचिव, मंत्री, भट, कवि, गायक, वैतालिक, सूत, मागध, तथा श्वेत वस्त्र एवं फूलमाला धारण किए हुए अन्य आगतों को यथास्थान बैठाता था। ये सभी सामाजिक किंचित् काल तक मण्डप में बैठते थे। तदनन्तर शृंगार रस की सजीव मूर्तियाँ—वारि विलासिनियाँ तरुणियाँ, चंचल लोचनाएँ, मराल को अपनी गति से लज्जित करने वाली तथा श्वेत वस्त्रों को धारण किये हुए आभूषण मंडित, सुवासित वस्त्रों को पहने सुन्दरियाँ राजप्रासाद में प्रविष्ट होती थीं। प्रासाद में प्रवेश करने के अनन्तर वारि-विलासिनियाँ श्रीखण्ड कल्क, कर्पूर, सौरभ सुवासित जल स्वर्णपात्रों के माध्यम से राजा के शरीर पर डालती थी। इस प्रकार राजा का शरीर आर्द्र हो जाता था। तदनन्तर राजा कस्तूरी, हरिद्रा, श्रीखंड से संयुक्त जल, सेवकों के ऊपर डालता था। इसी समय वारि-विलासिनियाँ कंटुक वृक्ष की डालों को एक सूत्र में निबद्ध कर के राजा की ओर जल प्रहार करती थी। सायंकाल सूर्यास्त के समय राजा आर्द्रवस्त्रों को उतार कर श्रेष्ठ वस्त्र धारण करता था और तदनन्तर रत्न-जटित आसन पर बैठ कर सेवक-सेविकाओं को उन्हें विसर्जित कर देता था।

सेचन-क्रीडा का सम्बन्ध प्रमुख रूप से स्नान से था। यह क्रीडा विशेष अवसरों पर राजाओं द्वारा सम्पन्न होती थी। भागवत पुराण में भी इसका वर्णन है। इस ग्रन्थ में सुवासित जल द्वारा आर्द्र किए जाने की अपेक्षा घृत, दधि तथा दुग्ध का प्रयोग उल्लिखित है—

गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः।
आसिंचन्तो विलिपन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः॥—भा० पु० १०।५।१४

वात्स्यायन के कामसूत्र में इस क्रीडा का वर्णन है। बाण ने 'कादम्बरी' (कथा मुख भाग मे इसका उल्लेख किया है यह एक विशेष प्रकार की क्रीडा थी इसका

विधान नित्य स्नान से परे और पृथक था इसमें सरसता का संचार अधिक था आज यह क्रीडा बाथ रूम में शावर बाथ' द्वारा सम्पन्न होती है।

सलिल-क्रीडा

सलिल क्रीड़ा ग्रीष्म ऋतु में सम्पन्न होती थी। सूर्य के प्रखर, प्रचण्ड एवं तीव्र होने पर राजा जल क्रीडा में प्रवृत्त होता था—

निदाघे समनुप्राप्ते चंडे मार्त्तण्डमंडले।
कुर्वन्ति सलिल क्रीडा क्रीडावाप्या महीपतिः ।।—मा० ५।५।२४१-४४

इस क्रीडा का स्थल नदी, पुष्करिणी तथा कण्ठ तक पूर्ण सोपान से युक्त जलाशय होता था :—

नद्यां वा पुष्करिण्यां वा कण्ठदघ्नामलामसि।
चतुरस्रा सुवृत्ता या रम्यसोपानभूषिता ।।—मा० ५।५।२४५

यह क्रीडा-स्थल मराल तथा चक्रवाकों की उपस्थिति से सुशोभित रहता था तथा हर प्रकार से स्वच्छ एवं साफ रखा जाता था। जल में राजा सुन्दरी तरुणियों के साथ क्रीडा करता था। तरुणियाँ क्रीडा के समय कुंकुम से युक्त श्वेत वस्त्र पहनती थीं। राजा के आगमन से पूर्व तट पर कर्पूर तथा पुष्प बिखेर दिये जाते थे। राजा इन रमणियों एवं सुन्दरियों में से किसी को खींच कर, किसी को पकड़ कर, किसी का कंधा पकड़ कर, किसी से प्रेमालाप तथा मधुर सम्भाषण करते हुए क्रीडा के हेतु जल में प्रवेश करता था। कर्पूर तथा सुवासित पदार्थों से युक्त जल में उतर कर सब एक-दूसरे को पकडने लगते थे। राजा जल में स्वर्ण तथा रत्न आदि डालता था जिन्हें उठाने के लिए सब युवतियाँ डुबकी लगातीं थीं। राजा सब पर प्रसन्न चित्त जल उछाला करता था। यथा, सिंधु को प्राप्त कर सरिता, हस्ती के साथ हस्तिनी, चन्द्र के साथ तारा गति को प्राप्त होते है, वैसे ही चन्द्रवदनी, कमल के सदृश मुख वाली राजा के साथ शोभा ग्रहण करती थीं। इन युवतियों के साथ वह कण्ठ तक जल में जा कर क्रीडा करता था। किंचित् दिवस शेष रहने पर यह क्रीडा समाप्त होती थी। तदनन्तर वस्त्र बदले जाते थे। राजा श्रेष्ठ वस्त्रों को धारण करता था। फिर राजा अपनी प्रियाओं के साथ शैय्या में बैठता था।

श्रीमद्भागवत, कामसूत्र, रघुवंश, आदि ग्रन्थों में इस क्रीडा का वर्णन है। स्पष्ट है कि यह प्राचीन भारत की प्रमुख तथा बहु प्रचलित क्रीडा थी। इसी प्रकार किरातार्जुनीय, शिशुपाल वध, अमरूशतक, शार्ङ्गधर पद्धति में भी इस क्रीडा का उल्लेख किया गया है।

शाद्वल-क्रीडा

हरीतिमा से सुशोभित, चारों ओर से घिरा सुरक्षित स्थान जहाँ पर सुन्दर हरी घास से पृथ्वी का शरीर आवृत रहता था : यह क्रीडा होती थी। यह क्रीडा राजा अपनी युवती दिव्यांगनाओं-प्रियाओं के साथ करता था शाद्वल स्थल कृष्णवर्ण वाले हाथियों मराल वृन्दों सुवासित पुष्प

से युक्त रहता था। पश्चिमी वायु चलने पर राजा इस क्रीड़ा के लिए तरुणियों का आवाहन करता था। इस स्थल पर जाने के लिए राजा प्रातः उठ कर पूर्वाह्न क्रिया समाप्त कर के अपनी प्रेयसियों का शृंगार करता तथा सुवर्ण घंटा से युक्त हस्तिनियाँ एवं लक्षित जाति वाले अश्वों को बुलाता था। हस्तिनी पर राजा चढ़ता था एवं पास की हस्तिनी पर राजा की प्रिया। अंतःपुर की स्त्रियाँ, गायिकाएँ, नर्तकियाँ, वारांगनाएँ अश्वों पर चढ़ती थी। इस प्रकार सब शाद्वल-स्थल पर जाते और वहाँ विश्राम करते थे। स्थल पर वाहन से सर्वप्रथम राजा उतरता था, उसके अनन्तर वह अपनी प्रिया तथा अन्य सुंदरियों को वाहन से उतारता था और फिर वैणिकों को यथास्थान स्थापित कर के विलासिनियों को प्रेयसियों के पास भेजता था। सभी के यथास्थान बैठ जाने पर अनेक प्रकार के आसन, भोज्य पदार्थों तथा ताम्बूलादि का सेवन क्रम चलता रहता था। निवृत्त होकर राजा पवित्र स्थान में प्रवेश करता था और वस्त्र तथा लेपों से शृंगार कर अपनी प्रियाओं को बुलाता था जो सिन्दूर, लाक्षारस, मुक्ता आदि धारण किए रहती थीं। इन्हें वह सम्मानपूर्वक अपने पास स्थान देता था। तदनन्तर गायन एवं वाद्य का कार्यक्रम चलता रहता था। नृत्य भी निपुण नर्तकियों द्वारा सम्पन्न होता था।

यह सब समाप्त होने पर राजा सुवर्ण की घंटियों से सुसज्जित कुसुम्भ वर्ण के छत्र तथा वीर कक्ष से सम्पन्न मस्तक पर तैल तथा सिन्दूर लगे हुए हाथी पर आरोहित होता था तथा प्रेयसियों को हस्तिनियों पर बैठा कर प्रासाद लौटता था। इस क्रीडा का विस्तृत वर्णन किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता फिर भी यह क्रीडा प्राचीन भारत में बहु प्रचलित थी। वर्तमान काल में यह क्रीड़ा पिकनिक के रूप में विख्यात है। हरित तृण सम्पन्न भूमि पर क्रीड़ा करना, यहाँ जीवन का एक अंग रहा है। श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णन है :—

शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान्।
तृप्तान् वृषान् वत्सरान् गाश्चस्वोधोभरश्रमाः॥—भा० १०।२०।३०

बालुका-क्रीडा

महाराज सोमेश्वर के समय में बालुका-क्रीड़ा बहुल प्रचलित थी। यह क्रीडा मनोरंजन की मुख्य साधन थी। सघन मेघों के छा जाने पर, स्वच्छ जल वाले जलाशय या नदी के तट पर पश्चिमी वायु के चलने पर यह क्रीड़ा सम्पन्न होती थी :—

सलिले सुख संस्वद्दौ पिपासाधर्महारिणी।
सूक्ष्म मुक्ताफला......हेमरेणु समप्रभे॥
नानामणिगणाप्रख्य सुलक्षणसिकता च ये।
मनोहरे समुद्देशे शीतकोण्डे पटावृते॥ —मा० ५।७।३३७

चक्रवाक, वकुलादि, तिलक, नलिनी से पूर्ण, पिपासाहरण करने वाले जल के समीप जो बालुका हो और जो मुक्ता तथा स्वर्ण की भाँति चमकती हो ऐसे स्थल पर यह क्रीड़ा करनी चाहिए

क्रीडा के लिए जाते समय राजा सुन्दरी, दिव्यागंनाओं तथा प्रियाओं को भी ले जाता था। राजा श्वेत वस्त्र तथा स्वर्णभूषण धारण कर के करिणियों पर सवार हो कर क्रीडा के लिए जाता था। स्थल पर पहुँच कर सब लोग चार-चार की संख्या में गोल बना कर बैठती थीं। राजा सभी के पास जाकर उन्हें अभिनन्दित करता था। राजा सर्वप्रथम समीपस्थ नदी या जलाशय में जाकर अंजलि द्वारा जल को उछालता था। इसके पश्चात् कमल की सुगंधि से सम्पन्न बालुका पुंज का देव मदिर बनाता था और उसके चारों ओर परिखा बना कर उसमें जल भर देता था। उसके पानस्थल पर राजा अपने अधर पल्लव का स्पर्श करता और शीत के बहाने से दांतों को पीस कर हाथों में बालू लेता था। इस प्रेमपूर्ण लीला से राजा प्रियाओं को आह्लादित करता था और बालुका पुंज के गोले बना बना कर राजा परस्पर एक-दूसरे से लडाता था। जिसका गोला भग्न होता वही पराजित माना जाता। विजयी पराजित की पीठ पर बैठता और उसके कान खींचता था:—

कुकुटस्य समारोप्य योधयेयु: परस्परं।
अजितस्य पृष्ठमारोहेन्कर्णंधृत्वा विकर्षयेत् ॥—५।७।३४९

इस क्रीडा के पश्चात् राजा विचित्र वस्त्र, लेपों तथा आभूषणों द्वारा शृंगार कर हस्तिनी पर चढ़ता था और विचित्र शब्द बोलता था। इस प्रकार अपनी प्रेयसियों को प्रसन्न करता हुआ श्रेष्ठ गति वाले अश्व तथा हस्तिनियों पर सब को बैठा कर वह प्रेयसियों से घिरा हुआ राजप्रासाद को लौटता था। यह क्रीडा अत्यन्त उत्साह से मनाई जाती थी। आजकल यह क्रीडा बालकों में ही पाई जाती है। श्रीमद्‌भागवत पुराण में भी इस क्रीडा का उल्लेख है।

ज्योत्स्ना-क्रीडा

महाराज सोमेश्वर ने इसे अत्यन्त हर्षप्रदायिनी क्रीडा माना है। आश्विन, कार्तिक, वसंत या ग्रीष्म में यह क्रीडा सम्पन्न होती थी। दुग्ध प्रवाह, शक्ति, चंदन, कर्पूर रेणु के समान, चकोरों की आनन्ददायिनी ज्योत्स्ना के फैल जाने पर राजा यह क्रीडा विशाल प्रांगण में करता था। श्वेत वस्त्र, मालती पुष्प की माला तथा कस्तूरी लेप धारण कर राजा इस क्रीडा में प्रवृत्त होता था। इस क्रीडा मे सुन्दरी युवतियाँ विशेष भाग लेती थीं। यह क्रीडा तीन प्रकार से खेली जाती थी:—

(१) सर्वप्रथम उपस्थित व्यक्ति ५, ७-८, ९ तथा १० की संख्या में दोनो ओर विभक्त होते थे। दोनों पक्षों के मध्य में रेखा अंकित की जाती थीं। पांच धनुष के अंतर पर दोनों ओर विजय-चिह्न अंकित होते थे। विजय-चिह्न का स्पर्श करने के लिए दोनों ओर के व्यक्ति दौड़ते थे। जो पक्ष स्पर्श क्रिया पहले समाप्त करता था, वही विजयी होता। इस क्रीडा में केवल पुरुष भाग लेते थे।

२ द्वितीय काष्ट क्रीडा थी इसे भगवान कृष्ण ने खेला था काष्टक्रीड यमाख्याता
गोविन्दन पुराकृता —मा० ५ ८ ३८६

इसमें ५ या ७ काष्ट फलों के द्वारा ८ हाथ के काष्ठ निर्मित होते थे और उनके समीप ही वर्तिका नामक एक ऋजु रेखा अंकित होती थी। एक पक्ष की रेखा के अंदर विपक्ष का व्यक्ति प्रविष्ट होकर कोष्ठों का उल्लंघन करता हुआ मध्य के कोष्ठ में पहुँच कर पुनः इस प्रकार से उस कोष्ठ को लांघता था कि रेखा का स्पर्श न हो। तीन बार लांघकर बाहर आने पर उसकी विजय होती है। रेखा पैर से छू जाने पर व्यक्ति पराजित माना जाता था।

(३) तृतीय प्रकार की ज्योत्स्ना-क्रीडा में केवल स्त्रियाँ भाग लेती थीं। इस क्रीडा को भी भगवान कृष्ण ने गोपिकाओं के साथ खेला था। इसमें सब स्त्रियाँ मिल कर एक गोला बना कर चक्रमण करती थीं। कुछ स्त्रियाँ गोले के बाहर, कुछ भीतर रहती थीं। स्त्रियों के हाथ केसर विनिर्मित दण्ड रहता था और पुष्प कन्दुक को परस्पर फेंकती हुई, राजा पर यदा-कदा प्रहार करती थीं। राजा चक्र के मध्य में खड़ा पुष्पकन्दुक-प्रहार का आनन्द लेता था।

तृतीय प्रकार की ज्योत्स्ना लीला का वर्णन निम्नलिखित है—

दुर्गचंक्रमं कृत्वा कर्दवंक्षप्रमापकैः।
भवेयुः काचिदन्तस्था काश्चित्तत्र बहिस्थिताः।
कंदुकं पुष्पसंभूतं दंडश्चान्यां भवेत्।।
तथा संग्रामसंयुक्त संहरन्ती परस्पर,
तांडयन्ति नृपं पुष्पै कन्दुकाकार दामभिः।
मालाभिश्च मनोज्ञाभिर्दडै केशरकल्पितैः।।—मा० ५।८।३८७

अंतिम प्रकार की क्रीडा बहुत कुछ रासलीला से साम्य रखती है (भा० १०।३३। २-३)। वात्स्यायन ने कामसूत्र में भी इस क्रीड़ा का वर्णन है (सू० १२)।

सस्य-क्रीडा

यह क्रीड़ा सस्य-क्षेत्र में सम्पादित होती थी। मातंगों को उन्मत्त कर देने वाली, कमल के उल्लास को नष्ट कर देने वाली, हरिणों को व्याकुल तथा मयूरों को पिच्छ शून्य करनेवाली, जन-जन में व्याकुलता के कारण कम्पन कर देने वाली, समस्त अंगों में रोमांच समुत्पन्न करने वाली, बिना प्रेम के नवयुवतियों में रतिभाव समुत्पन्न करने वाली हेमंत के आगमन पर किसी रमणीय सस्यक्षेत्र में राजा इस क्रीड़ा को खेलता था। इस क्रीड़ा के लिए राजा हरे भरे, पुष्पों से युक्त, कीचड़ से रहित तथा विचित्र फलों से सम्पन्न क्षेत्र में जाता था। राजा के इस क्षेत्र में पहुँचने के पूर्व ही दध्योदन, गोधूमवल्लक, पुआ, पूड़ी, खीर, मद्य, तक्र, फल, मूल, राजिका, लवण, पुष्ट, शूकर, तथा मेध पहुँचा दिए जाते थे। इन उपर्युक्त वस्तुओं के द्वारा क्षेत्र में नाना प्रकार के भोजन बनते थे। सब वस्तुओं को राजा अपनी प्रेयसियों के साथ ले जाता था। उसके साथ अनेक तरुणियाँ, प्रेयसियाँ, ब्राह्मण, विट, गायक आदि भी रहते थे। पहले कतिपय स्थान के पौधों को उखाड़ कर, यत्र-तत्र ऊँचाई से रख कर बनाए हुए प्रवेश द्वार से क्षेत्र के अंदर वाद्य बजाते हुए व्यक्तियों के साथ प्रवेश करता था राजा के साथ सभी बैठ जाते थे इसके अनन्तर राजा चणक फल निष्पाव गोधूमकणिश फल सुस्वादु भोजन सब को पृथक-पृथक

बाँटता था। सब को भोजन वितरित कर देने के अनन्तर वह अपने पुत्र तथा बंधुओं के साथ बैठ कर भोजन करता था। नाना प्रकार के भोजन बनते थे। चने के पौदे के कोमल अग्र भाग को मंद-मंद अग्नि में भून कर उसकी भूसी निकाल कर राजा को खाने के लिए दिया जाता था। समस्त वस्तुओं को राजा परिजनों के साथ प्रीतिपूर्वक ग्रहण करता था। इसके बाद राजा मधुर मदिरा पान करता था। इनके अतिरिक्त दही भात में ककड़ी मिला कर, लाल गाजर, राई, लवण, कंद मूल-फल, बराह तथा मेष का भूना हुआ मांस खाता था। भोजन से निवृत्त हो कर वह शृंगार करता था और स्वर्णाभूषणों को धारण कर श्रेष्ठ अश्वों पर चढ़ कर स्त्रियों के साथ राज मन्दिर में लौट जाता था।

यह क्रीडा राजधानी के पास में स्थित किसी खेत में होती थी। इस क्रीडा का विस्तृत वर्णन किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। श्रीमद्‌भागवत पुराण में एक स्थल पर इसका संकेत मिलता है— "क्षेत्राणि सस्यसम्पद्‌भिः कर्षकाणां मुदं दधुः।" —भा० पु० १०।२०।१२

यह क्रीडा आजकल ग्रामों में प्रचलित है। नवीन सस्य से क्षेत्रों के पूर्ण होने पर लोग वहीं जा कर 'होला' भूनते हैं और भोजन बनाते हैं।

मधुपान-क्रीडा

यह क्रीड़ा राजा अपनी काम प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए करता था। इस क्रीडा में केवल स्त्रियाँ भाग लेती थीं। यह क्रीडा, वन, उपवन, गृह, नदी तट तथा बालुका स्थल या सुन्दर घास वाले लॉन से युक्त उद्यान में होती थी।

अटव्यां शाद्वलेदेशे नद्यां वा बालुकास्थले।
उद्याने फलपुष्पाढ्ये गृहे वासु विचित्रिते।
मधुपानोद्‌भवलं क्रीडां स्त्रीजनं करयेन्नृपः॥

इस क्रीड़ा को सम्पन्न करने के लिए गुड़ से बनी मदिरा, माध्वी, पेष्टी, द्राक्षासव, मधु का आसव, पनसासव, शिन्दुनासव, तथा ताल मदिरा आदि को एकत्र किया जाता था। सम्राट् सोमेश्वर ने इन मदिराओं के निर्माण की विधि का सविस्तार उल्लेख किया है। मदिरा के साथ खाने के, लिए अनेक प्रकार के खट्टे, नमकीन, चरपरे पदार्थ होते थे जिनके प्रस्तुत करने में मूली, अदरख गाजर, नीबू, प्याज, मिर्च, नमक, तैल, हींग, केसर एवं अन्य पदार्थ होते थे। नाना प्रकार के मांसों को पकाया जाता था। इसी प्रकार अनेक चटनियाँ, नमक, खटाइयाँ प्रस्तुत की जाती थीं।

तैयार की हुई समस्त खाद्य तथा पेय वस्तुएँ एक स्थान पर रखी जाती थीं। साथ ही अनेक प्रकार के सुंदर चषक भी रखे जाते थे। राजा की आज्ञा से पान स्थान बालुका स्थल, घास का मैदान उपवन या पेड़ की छाया के नीचे काड पट कनातें लगा कर बनाया जाता था

सब कुछ प्रस्तुत होने के अनन्तर राजा श्रृंगार रस के हृदय का हरण करने वाली चन्द्रमुखी नारियों को बुलाता था। सब युवतियाँ आकर बाईं पक्ष के अनुगमन बैठ जाती थीं। राजा स्वयं उनके आगे सुन्दर पात्र तथा सोने की थालियाँ रखता था। राजा भोजन परसने तथा मदिरा पिलाने में बड़ा उल्लास तथा प्रसन्नता का प्रदर्शन करता था। राजा के साथ युवतियाँ पदार्थ स्वादपूर्वक खाती जाती थीं तथा मदिरा का पान करती थीं। मदिरा के प्रभाव में उन्मत्त युवतियाँ भाँति-भाँति के हाव-भाव करने लगती थीं। कोई गाती, कोई नृत्य में प्रवृत्त होतीं, कोई कविता पाठ करने लगती, किसी के नेत्र उन्मीलित हो जाते तो किसी का उच्चारण अस्पष्ट हो जाता। कोई रोती, कोई कोकिल के समान स्वर करती, कोई अपशब्दों को उच्चारित करती थी। कोई विह्वल होकर राजा को देखती हुई आलिंगन करने के लिए चेष्टा करती तो कोई दूसरी युवती के कपोलों का चुम्बन करती। इन सब अवस्थाओं का वर्णन सोमेश्वर ने सविस्तार रोचक ढंग से किया है। उनकी मदावस्था के ये दृश्य देखकर राजा का मनोरंजन होता था। इस प्रकार राजा प्रसन्न हो कर उनके मध्य में विचरण करता था। सोमेश्वर ने विभिन्न मदिराओं के रंग, स्वाद और प्रभाव का भी विशद वर्णन किया है। उसने लिखा है कि मदिरापान करते समय हँसना, रोना, गाना आदि क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए।

इस क्रीड़ा तथा वर्णन से स्पष्ट है कि उस समय नर-नारियों में मदिरा-पान की प्रथा थी और यह पेय हेय नहीं माना जाता था।

प्रहेलिका-क्रीडा

प्रहेलिका क्रीडा प्राचीन भारत की प्रमुख क्रीडा तथा मनोरंजन का साधन था। राजा धर्मार्थ से निवृत्त होकर, पुष्ट तथा सुस्वादु भोजन पा कर, निद्रा से उत्थित होकर, आलस्य को हटाने के लिए प्रहेलिका क्रीडा का आयोजन करता था। इसके लिए चतुर, ज्ञानी, विद्वान्, प्रवीण, तथा साहित्य विशारदों को राजा बुलवाता था। इन सब के सम्मिलित होने पर यह क्रीडा सम्पन्न होती थी। इस क्रीडा में एक व्यक्ति प्रश्न पूछता और शेष उत्तर देते थे। जो उत्तर नहीं दे पाता था वह पराजित समझा जाता था—

"पृच्छत्येकोऽवदत्येको नत्वज्ञाने पराजयः।"—मा० ५।११।५३५

प्रश्न के पूछे जाने पर सब के हृदय में कौतूहल जाग्रत होता था और साथ ही मनोरंजन भी होता था। प्रहेलिका के उत्तर का मूल्यांकन करने के लिए एक विद्वान् नियुक्त होता था।

प्रहेलिकाएँ अनेक प्रकार की होती थीं। प्रहेलिकाओं के कुछ रूप हैं—स्वरूप प्रश्ना, हेतु प्रश्ना, व्यस्ता, उत्तरोत्तरा, अनेकार्थ पदोत्तरा, अक्षर सार्थका, पदसार्थका तथा गूढार्थका आदि। अनेक प्रकार की प्रहेलिकाओं के अन्तर्गत अनेक प्रकार के प्रश्न पूछे जाते थे। सोमेश्वर ने इस क्रीडा के अन्दर अनेकानेक प्रहेलिकाओं का वर्णन किया है। प्रहेलिका क्रीडा के समय अक्षर पद आदि छोड़ कर भी प्रहेलिका पूछी जाती थी।

प्रहेलिका क्रीडा ज्ञानपूर्ण, उत्सुकता को जाग्रत करनेवाली, कौतूहल को परिवर्द्धित करने वाली तथा सजीवता का संचार करने वाली होती थी। यह भारतवर्ष की बहु प्रचलित क्रीडा

है। वात्स्यायन के कामसूत्र, (सूत्र ३२-३३), कादम्बरी (कथामुख भाग) आदि ग्रन्थो मे इसका उल्लेख है।

चतुरंग-क्रीडा

यह राजाओं की प्रिय क्रीडा रही है। 'मानसोल्लास' में इसका विस्तृत तथा व्यापक वर्णन है। अतः स्पष्ट है कि महाराज सोमेश्वर इस क्रीडा मे अत्यधिक आनंद लेते थे। सोमेश्वर ने चतुरग क्रीडा के मुख्य अंग—स्थापना क्रम, खेलने की विधि, पण, विजय, पराजय आदि का सूक्ष्म वर्णन किया है। यह क्रीडा चौवारे फलक पर खेली जाती थी जिसमें अनेक चौकोर प्रकोष्ट बनाए जाते थे। इसके छः अग थे—राजा, मंत्री, गज, घोड़ा तथा पैदल आदि के दो कोणों में रथ तथा अदर के कोष्ठों में दो घोड़े स्थापित किये जाते थे। उसके अनन्तर हाथी रखे जाते थे। हाथियो के मध्य राजा तथा मंत्री का स्थान रहता था। आगे की पंक्ति में सैनिक (पदाति) रहते थे। इस प्रकार राजा अपने समक्ष अपने बल को स्थापित करता था। इसी प्रकार दूसरे पक्ष का व्यक्ति भी आगे के कोष्ठ में इन सभी अंगों की स्थापना करता था। इसके अनन्तर सोमेश्वर ने चालो का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ रथ, कोने से एक एक पद के अंतर से चलता है। चारों कोनो से तुरग चलता है। हाथी भी उसी प्रकार चलता है। इन सब के द्वारा प्रेरित हो कर मंत्री निकट के चारों कोष्ठों में चलता है अथवा एक दो पद चलता है। राजा समीप के सब कोष्ठों में हो कर चतुर्दिक् जाता है। मंत्री के समीप चतुर्थ पद पर यदि रथ, हाथी, राजा, अश्व तथा पैदल द्विकोणस्थ हो और समक्ष आएँ तो वह मार डालता है। हाथी बलवान है अतः सैनिकों की रक्षा करता है। कोष्ठ का पदांतर रथ का एक पद कहा जाता है परन्तु तृतीय एवं पंचम पंक्ति में जाकर लौटने पर द्वितीय मार्ग से जाते समय सातवीं पंक्ति में दो पद होती है। समीप की पंक्ति में प्रवेश करने पर रथ दो पग पहुँचता है। इस प्रकार रथ के परीक्ष का खेल में विन्यास होता है।

इसी प्रकार सोमेश्वर (तृतीय) ने प्राचीन भारत के इस सुन्दर मनोविनोद का व्यापक तथा सूक्ष्म वर्णन किया है। घोड़े की स्थिति, चाल, कोष्ट, पद, मंत्री की स्थिति, चाल, कोष्ट, चक्रव्यूह की रचना और राजा की सर्वशक्तिमत्ता, व्यूह के निर्माण का वर्णन, व्यूह में राजा, मत्री, सैनिक, अश्वादि का वर्णन महाराज सोमेश्वर ने बड़े विस्तार के साथ किया है। इन वर्णनो मे दांव-पेंच तथा चालों का भी कुशल वर्णन है। इससे प्रकट है कि महाराज स्वतः चतुरंग खेल के प्रेमी तथा ज्ञाता थे। वैदिक काल में भी यह खेल बाहुल्य के साथ खेला जाता था। वैदिक काल मे भी चतुरंग के वही छः अंग थे जिनका महाराज सोमेश्वर ने वर्णन किया है। यह युद्ध सम्बन्धी क्रीडा थी। प्रत्येक खेल में एक राजा, एक मंत्री, दो हाथी, दो घोड़े, दो रथ तथा आठ पैदल रहते थे। खेल में राजा और मंत्री आदि पीछे रहते थे और आगे पदाति सैनिक।

पाशक या अक्ष-क्रीडा

पाशक क्रीड़ा में बीस अंगुल के विस्तार का श्रेष्ठ दारु लकड़ी का फलक निर्मित किया जाता था जो चार वितस्त दीर्घ तथा बीस अंगुल ऊँचा होता था। इसमें चार अंगुल विस्तार के एव नौ अगुल दीर्घ चौबीस गृह बनाए जाते थ और दो पदको से युक्त दो पंक्तियाँ

निर्मित की जाती थी जिसमें एक अंगुल का अंतर रहता था। क्रीड़ा के ढाई अंगुल विस्तार के हाथी दांत के तीस पाशकों अथवा सारिकों का प्रयोग होता था जिसमें १५ श्वेत तथा १५ चित्रित पासे रहते थे। सोमेश्वर ने लिखा है—

सार्धद्व्यंगुल विस्तारा: रदिदंतै समुद्भवा:।
दशपंचसितास्तत्र दशपंच चित्रिता।
त्रिंशदेता: समाख्याता......प्राशककेलिषु॥

पाशकों को रखने के लिए चतु:सारीक तथा पंचसारीक विधियों का वर्णन किया गया है। दो सिर पर, छठे गृह के बाहर के गृह तथा चतुर्थ गृह में चार-चार तथा पाँच शीर्ष पर श्वेत सारिकाएँ रखी जाती थीं। जिसे चतुस्सारीक विधि कहते हैं। इस प्रकार पंचशिरोभाग पर, पाच बारहवें गृह में तथा पांच छठे गृह में चित्रित सारिकाएं रखने की विधि को पचसारीक कहा गया। इन्हें (सारीकों को) अन्य प्रकार के भी फलक पर स्थापित किया जा सकता है। सोमेश्वर ने इसका सूक्ष्म वर्णन किया है। इस क्रीडा में दो हाथी के दांतों से निर्मित तर्जनी मात्र से चौकोर, सम तथा सुचिक्कण पासे बनते हैं। उनके चारो ओर काले तिल के आकार के बिन्दु बनाए जाते थे, जो दाय कहलाते हैं। दायों के अनेक स्थान होते थे। दो दो दो. दो तीन तीन, दो चार चार, दो पांच पांच वाले समदाय कहलाते थे। इन्हीं संख्याओं से सम्बन्धित दस प्रकार के दाय थे। ये पासे चौकोर, वर्तुलाकार आकृति के गोलकों में डाल डाल कर खेले जाते थे। खेल में सारिकाओं के खेलने तथा उनकी गति के चार प्रकार थे। अत्यन्त शीघ्र चलने वाली सारीक गम, इधर उधर घूम कर चलने वाली सारीक चर, गतिरोध कर चलने वाला वध, तथा अन्य का मार्ग बाँधकर चलने वाली सारीक गति प्रतिबंध कहलाती थी। सोमेश्वर ने इस क्रीडा में जीतने तथा सारीकों को पचाने के अनेक दांव पेंचों का वर्णन सविस्तार किया है।

इस क्रीडा में किसी वस्तु की शर्त होती थी जिसे 'पण' कहा जाता था। इसमें विजय निर्धारित करने के लिए अनेक नियम प्रचलित थे। खेल में खिलाड़ी सर्व प्रथम गम दांव ही चलते थे। गम के नष्ट हो जाने पर चर तथा वध चलते तथा सदैव दाय को दुगना कर देने का प्रयत्न करते थे।

अक्ष-क्रीडा में मनोरंजन तथा द्यूत दोनों के रूप सम्मिलित थे। सोमेश्वर ने इसे द्यूत में प्रयुक्त करने वालों के लिए नियमों का भी उल्लेख किया है। सोमेश्वर के मत से यह व्यसन को नाश करने का कारण है। पुष्कर द्वारा राजा नल इसी क्रीडा द्वारा जीते गए थे। यह क्रीडा मन तथा बुद्धि नाशक है। सोमेश्वर का आदेश है कि राजा को इस क्रीडा से बचने की चेष्टा करनी चाहिए। यह दुरंत क्रीडा है। यह क्रीडा भारत में प्राचीनकाल से प्रचलित रही है।

इसका उल्लेख वेद (ऋग्वेद१०।३४।१-१०), पुराण (श्रीमद्भागवत पुराण १०।६६। ३५-३६), महाभारत (सभापर्वकांड) एवं मनुस्मृति (७।४५-४७), याज्ञवल्क्य (याज्ञ० २ २०४) कामसूत्र (सूत्र १३) ललित विस्तार (दि कलाज सूची २२` कादम्बरी (अवतर ७५ सू० १४ आदि मे मिलता है

वराटक-क्रीडा

यह क्रीडा आश्विन मास के कृष्ण पक्ष की अमावस्या तथा चतुर्दशी को सम्पन्न होती थी—"अमावस्यां चतुर्दश्यां कृष्णपक्षे विनोदयेत्"।

महाराज सोमेश्वर का अभिमत है कि यह क्रीडा चतुर्दशी से लेकर शुक्ल पक्ष की पंचमी तक हो सकती है—

"आरम्भेत्ततो द्यूतं यावदायाति पंचमी"।

चतुर्दशी के दिवस स्नान, तथा देवाराधना करके तूर्य नाद से पूर्ण ब्राह्मणों के आशीर्वाद से आनंदित हो, अंतःपुर की नारियों द्वारा नीराजना करवा चुकने पर पुत्र, पौत्र, बंधु-बांधवों, मित्रों तथा भृत्यों को आमंत्रित करके राजा सब के साथ आनन्दपूर्वक भोजन करता था। भोजन से निवृत्त होकर राजा द्यूत में चतुर व्यक्तियों को आमंत्रित करके द्यूत-क्रीड़ा प्रारम्भ करता था।

द्यूत सामान्यतया कौड़ियों द्वारा होता था। यह क्रीडा ५, ४, ३० कौड़ियों द्वारा सम्पन्न होता था। ४ कौड़ियों द्वारा सम्पन्न होने वाले खेल को पुंजिका कहा जाता है। यह खेल गोलाकार मण्डल में खेला जाता था। इसे नंदिरेखा कहा जाता था और ३ अंगुल विस्तार का वृत्ताकार बनाया जाता था। कौड़ी के द्यूत में नंदि, द्विक, त्रिक तथा पूर्ण, ये चार प्रकार के दाय होते थे जिनका निश्चय एक, दो, तीन, चार वराटिकाओं द्वारा ही होता था। दाय को स्वीकार करने वाले चार लेखक हुआ करते थे और एक गणितज्ञ होता था जो अत्यन्त सावधानी से वराटिकाओं की गणना करता था। पूर्ण दाय हो जाने के अनन्तर मुट्ठी वराटिका भर कर फेंकी जाती थी। कौड़ी फेंके जाने पर प्रत्येक चाल को अत्यन्त ध्यान से देखा जाता था और प्रत्येक के भाग में चार-चार की गणना से कौड़ियों की संख्या होती थी। जिसके भाग में ४ से अधिक कौड़ी बचती थी, वही विजयी होता था। गणना का कार्य गणक करता था। द्यूत खेलने के पूर्व उभय पक्षों द्वारा पण निश्चित होता था।

वराटिका की चालें चलने में अनेक प्रकार से हस्तलाघव का प्रयत्न होता था। प्रवीण खिलाड़ी विजय प्राप्ति के लिए कौड़ी छिपा भी लेता था और पण प्राप्ति के अनन्तर मिला देता था। प्रत्येक खिलाड़ी अधिक पण प्राप्त करने की चेष्टा करता था। द्यूत जीतने पर जीतने वाला खेल त्यागने की चेष्टा करता था परन्तु पराजित संलग्न रहता था।

भारतवर्ष में कौड़ियों के खेल तथा द्यूत के अनेक प्रचलित रूप हैं। मनु (९।२२३) ने कौड़ी द्वारा खेले जाने वाले मनोरंजन को द्यूत की संज्ञा दी है।

"अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।"—मनु० ९।२२३

मनु ने कहा है कि द्यूत वैर बढ़ाने वाला, नाशक कारण है अतः हास्य में भी द्यूत नहीं खेलना चाहिए।

द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महत्।
तस्माद्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्॥—मनु० ९।२२७

याज्ञवल्क्य (याज्ञ० २।२०३।२०४), बौद्ध साहित्य (दीर्घनिकाय, ब्रह्म जाल, सुत्त सू० १४ पृ० ७ एवं ३२ ३३ में इस प्रकार की द्यूत-लीला का वर्णन है

फणीन्द्र-क्रीडा

प्राचीन भारत में इस क्रीडा के प्रदर्शन द्वारा राजा नव के हृदय में कौतूहल की सृष्टि करता था। समस्त कार्य समाप्त करके भोजनादि से निवृत्त होकर, अपना श्रृंगार करके, अपनी प्रियाओं, विटों, नृत्य, वाद्य तथा संगीत-विशारदों, वंदियों, धूर्तों, सेवकों तथा फणीन्द्रों के आ जाने पर राजा अपनी दृढ़ मुष्टिका के बल को तथा हस्तलाघव के प्रयत्नों एवं प्रयोगों को अस्त्र-शस्त्र के बहाने से प्रदर्शित करता था। किंवदन्तियों के कौशल को हस्तलाघव प्रदर्शनार्थ एवं मनोरंजन के लिए राजा फणीन्द्र क्रीडा करता था। इस क्रीडा के माध्यम से बन्दियों का मनोरंजन होता था तथा स्त्रियों के हृदय में राजा के प्रति अनुराग का बीज अंकुरित होता था। क्रीडा प्रारंभ होने के पूर्व सभी दिशाओं में कांक बाध दिये जाते थे जिनके अन्दर खेलने के लिए २०, ३०, या ४० बरडक होते थे। बरंडक तलवार या खड्ग द्वारा बनाए जाते थे। इनके द्वारा राजा एक ही प्रहार करके अपने बल का प्रदर्शन करता था। कभी-कभी छुरिका की धार को पृथ्वी पर रख कर राजा अपने हस्तलाघव का प्रदर्शन करता था। कभी-कभी वामहस्त में छुरिका को ग्रहण कर दक्षिण हाथ में बदल कर, तथा मुष्टिका से उसे पकड़ कर वेग से चलाता था। इस प्रकार राजा बल, शौर्य, कौशल तथा प्रयत्न लाघव का प्रदर्शन करता था।

फणीन्द्र क्रीडा का प्रसंग अन्यत्र नहीं सम्प्राप्त होता है। इसका लक्ष्य यह था कि जिस प्रकार सर्प अपने फण को तीव्रता से उठाता और मारता है, उसी कौशल के साथ हस्तलाघव का अन्य व्यक्तियों के समक्ष प्रदर्शित करना चाहिए। 'ललित विस्तार' तथा वात्स्यायन के कामसूत्र (पृ० ३२-३३) में प्रयत्न लाघव का वर्णन है।

पंजिका-क्रीडा

इस क्रीडा में पुरुष एवं स्त्रियाँ दोनों दर्शक के रूप में विद्यमान रहते थे—"स्त्रियो योज्या विशेषेण न योज्या केवलं नराः" (मा० ५।१६।८८८)। अतः स्त्रियाँ भी इस क्रीडा में भाग लेती थीं। रूप सम्पन्न, लावण्य युक्त, प्रेमभाव से ओतप्रोत, विलास विभ्रम से पूर्ण, परिहास से अनुरक्त, एवं चतुर युवतियों को आमंत्रित करके राजा पंजिका क्रीडा करता था—

तरुणी रूपसंपन्ना प्रेमभावसमन्विता।
विलासविभ्रमे युक्ता परिहासरसप्रिया॥
आहूय चतुराकांता कंजीक्रीडा विशारदा।
ताभिः सह महीपाल कंजिक्रीडां समाकरेत्॥—मान० ५।१६।८८५-८८६

इस क्रीडा में ६, ७, ८, १० व्यक्ति लगाए जाते थे। यह क्रीडा भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपिकाओं के साथ की थी, अतः राजा को चाहिए कि स्त्रियों के मन को आनंदित करने के लिए उस क्रीडा की योजना करे। इस क्रीडा को करते समय स्त्रियों की मुद्रा तथा हाव भाव, राजा को भली-भाँति देखना चाहिए।

इस खेल को कार्यान्वित करने के लिए सायंकाल ही पंजिका मंडल की रचना हो जानी चाहिए अठारह मगुल का चौकोर मण्डल बना कर उसके चारो ओर भसिनका बनाई जाती थी

तीन अंगुल के अंतर से एक एक रेखा अंकित की जाती थी। तदनन्तर अर्धचन्द्राकार के कंजिका के कोष्ठ बनाए जाते थे। ये कोष्ठ मिल कर कमल के पत्र के आकार के हो जाते थे। मण्डल प्रस्तुत हो जाने के अनन्तर कोष्ठों में पीत, हरित, लाल, पाटल, पांडु, सारंग, व्याघ्र के वर्ण वाले, कुंकुम, रासभ के समान वर्ण, सर्प के उदर के सदृश वर्ण, घृत, क्षीर तथा मल्लातक फल के समान वर्ण भरे जाते थे। वर्णों के अनुसार कोष्ठों के अनेक सुंदर नाम होते थे। इन सभी में समान वर्ण एव आकार वाले पांच-पांच कोष्ठों को मिला कर धामा, सात समान वर्ण एवं आकार वाले सप्तक को वराटक आदि के नाम से विभूषित किया जाता था। पंजिका की जो संख्या अधोमुखी बनाई जाती थी, उन्हें सपक तथा गोमुख के आकार के ऊर्ध्व मुख वाले संख्या वराट कहलाते थे। इस प्रकार ऊर्ध्व एव अधोमुख वाले संख्या बन कर दायों का निर्माण होता था। पांच संख्या के अधोमुखी होने के कारण क्रीड़ा का नाम पंजिका पड़ा। इस क्रीड़ा का उल्लेख अन्यत्र नहीं हुआ है।

तिमिर-क्रीडा

राग वृद्धि की अभिवृद्धि के लिए, स्त्रियों के चित्त को मुग्ध करने के लिए तथा मनोरजन के लिए इस क्रीड़ा की आयोजना राजा द्वारा होती थी। इस क्रीड़ा को राजा केवल अपनी प्रेयसियों के साथ करता था। यह क्रीड़ा भू-गृह या गर्भ-गृहों के अन्दर होती थी। सर्वप्रथम इन गृहो के गवाक्षों को यत्नतः आच्छादित कर दिया जाता था। फिर उन पर परदा डाल दिया जाता था। इस प्रकार अदर पूर्ण अंधकार की स्थिति का सर्जन होता था। गृह को इस प्रकार आच्छादित किया जाता था कि राजा का मंत्री तक अन्दर घटित खेल को न देख सके।

भू-गृह प्रस्तुत हो जाने पर राजा सब को हटा कर पद चाप को रोकता हुआ गृह में प्रवेश करता था। इसके अनन्तर अठारह वर्षीया, हृदय को आनन्द देने वाली, लावण्य से सम्पन्न, कमल के समान मुक्त वाली तरुणियाँ राजा के संकेत पर प्रविष्ट कराई जाती थी। तिमिर गृह में प्रविष्ट राजा उन तरुणियों में से किसी को समीप जा कर पकड़ लेता, किसी के केश ग्रहण कर खींचता, किसी के सिर पर ताड़न करता, किसी की टांग खींचता, किसी के अंग ग्रहण कर उन पर खुजली करता। इस प्रकार से वह बालाओं को तंग करता। तिमिर गृह के पूर्व से नियुक्त या स्थापित कतिपय तरुणियाँ इन नवागता तरुणियों को भी खूब तंग करती थी। कोई किसी नवागता को गाली देती, कोई मारती, कोई केश पकड़ती, कोई एक दूसरे को पकड़ कर लड़ने को प्रवृत्त होती। राजा संघर्ष को रोक कर हास्य का सृजन करता था। फिर राजा किसी बाला के पयोधरों (कुचों) को स्पर्श करता था, किसी को दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर आलिंगन में बद्ध कर लेता था। क्रुद्ध, असन्तुष्ट, बालाओं को प्रसन्न करके, राजा उनमें काम प्रवृत्ति को जाग्रत करने की चेष्टा से कुच, कपोल और नाभि प्रदेश का स्पर्श करता था। राजा बालाओं के सुवर्ण गति से विभूषित जंघाओं, मुक्ताहार से शोभित कण्ठ, बिम्ब सदृश ओष्ठ एवं क्षीण कटि तथा नाभि प्रदेश का सरल स्पर्श करके उन्हें प्रसन्न करता हुआ काम वृत्ति जाग्रत करता था। इस प्रकार काम वृत्ति जाग्रत होने पर बालाओं को राजा संभोग द्वारा सन्तुष्ट करता था। राजा इस प्रकार उन्मत्त बालाओं को परितुष्ट करके फिर क्रीड़ा प्रारम्भ करता था।

राजा तिमिर गृह में तत्र ध्वनि कर के छिपन का यत्न करता था और बालाए उसे पकड़ने

वा प्रयत्न करती थी पकड़ने की चेष्टा में प्रयत्नशील बाला को पकड़ कर राजा उनका आलिंगन तथा कोमल अंगों का संस्पर्श करता था

तिमिर-गृह-क्रीड़ा का वर्णन श्रीमद्भागवत पुराण (१०।३८।२७), शारंगधर पद्धति (३९-४२), एवं सूक्ति मुक्तावली (६६।१०) में भी हुआ है।

वीर-क्रीडा

इस क्रीड़ा का सम्बन्ध प्रेत विद्या एवं सिद्धादि से है। इस क्रीड़ा के प्रारम्भ में ही सिद्धि प्राप्ति का वर्णन सोमेश्वर ने किया है। महाराज सोमेश्वर ने लिखा है—"सिद्धिकार्यं नरैं पूर्वं क्रीडयान् प्रकटीकृता" (भा० ५।१८।९८३)। यह क्रीड़ा वीर पुरुषोचित है—"तेनासौ वीर पुरुषैः कर्तव्यानेतरे नृपैः।" इस क्रीडा में साहसवान् व्यक्ति ही सम्मिलित होते थे। साहस से विहीन की मृत्यु तक हो जाती थी। सोमेश्वर वीर था, अतः भयानक क्रीड़ा में भी उसे मनोरंजन का साधन प्राप्त होता था। इसी क्रीड़ा को अत्यन्त बलशाली विक्रमादित्य शालिवाहन राजा तथा कालिदास जैसे कवियों ने किया था—

विक्रमादित्यरूपेण महासाहसिकेन सा,
कृता मुद्गकविना वीराणां प्रवरेन च।
दर्शितावीरनाथेन शालिवाहनभूभृता।,
..........कालिदासेन सेविता।
अन्यैश्च बहुभिर्वीरैर्लीलिता पृथिवी तले॥—भा० ५।१८।९८४-८६

वीर क्रीड़ा द्वारा १८ प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया गया है—
(१) खड्ग, (२) बाणल, (३) हरितग या गदा, (४) पात्र, (५) यष्टि, (६) मुष्टि, (७) पट, (८) खटी, (९) योजन, (१०) पादुका, (११) रक्त, (१२) वैताल, (१३) मणि, (१४) रस, (१५) निधि, (१६) वराटिका, (१७) अक्ष, (१८) वाक्।

जो जिस सिद्धि के लिए अभिलषित था, वह उसके लिए प्रयत्न करता था। उपर्युक्त सिद्धियों को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इनकी प्राप्ति के उपाय कठिन ही नहीं दुःसाध्य हैं। सोमेश्वर ने इनका विस्तृत वर्णन किया है। सिद्धि के आकांक्षी को शस्त्र तथा मंत्र धारण कर, धीर एवं पवित्र मन से भूतनाथ शंकर का ध्यान कर और चण्डी देवी को हृदय में स्थापित कर, डेढ़ प्रहर रात्रि व्यतीत होने पर तथा मार्ग शून्य हो जाने पर प्रस्थान करना चाहिए। स्वगृह से निःसृत साधक सावधानी से तिराहों, चौराहों, मंदिर, विशाल वट, पीपल वृक्ष के नीचे तथा सरित के मध्य गमन करे। जाते हुए उसे पिशाच, वैताल, राक्षस तथा प्रेत मिलते हैं। उनमें कोई विशालकाय, कोई अंगार सदृश नेत्रवान्, कोई मुण्डित शिर, कोई दीर्घ दन्ती, कोई भयानक मुख वाला, कोई बड़े उदर वाला, कोई तीन पैर वाला तो कोई एक पैर वाला, कोई धूल धूसरित तो कोई रक्त से स्नात, एवं कोई विकराल आकृति वाला हो सकता था। इन सब को देख कर व्यक्ति अत्यन्त प्रसन्न होता था। वह सब को तृप्त कर के आगे बढ़ता था। फिर मार्ग में उसे योगिनियाँ मिलती थी वह उनकी भी करता हुआ अग्रसर होता था में

योगिनियाँ नेत्रजा, सहजा, समयोद्भूता, प्रकार की होती थीं। योगिनियों के दो और भेद थे—(१) गुप्ता तथा (२) प्रकट। गुप्ता ५ प्रकार थीं—भार्या, दासी, वेश्या, विधवा तथा तपस्विनी। प्रगटा योगिनी चतुर्दिक् भ्रमण करती हैं पर गुप्ता गुप्त रूप से अपना कार्य करती हैं। राजा उन्हें मांस-मदिरा अर्पित कर के प्रसन्न करता है तब सिद्धि उपलब्ध होती है। राजा विजयी होकर लौटता था। प्रातःकाल उठकर वह अपने चमत्कारों का प्रदर्शन करता था। अतः स्पष्ट है कि यह क्रीड़ा प्रेतविद्या से सम्बन्धित है। यह भयंकर क्रीड़ा होने के साथ ही दु साध्य भी है।

प्रेम-क्रीडा

इस क्रीड़ा को राजा शुद्ध अंतःकरण वाली युवती के साथ करता था। सोमेश्वर ने प्रेम को पुण्य तथा पूर्वजन्म के सुकृतों का फल माना है—"विना पुराकृतैः पुण्यैः प्रेमप्राप्त्र लभ्यते।"

इस प्रकरण में सोमेश्वर ने अनेक प्रसंगों पर प्रकाश डाला है। उदाहरणार्थ, अभ्यास से विद्या, योग से ज्ञान, पराक्रम से ओज, साहस से सिद्धि, रसायन से आयु, क्षमा से सेवा, मित्र से प्रिय वाक्य, विवाह से स्त्री, स्त्री से पुत्र, दीप से प्रकाश, आभूषण से शोभा, अग्नि से भोजन तथा खान से मणि की सम्प्राप्ति होती है परन्तु किसी का शुद्ध प्रेम किसी भी उपाय से नहीं प्राप्त होता। इसी कारण पुण्य से विहीन व्यक्ति को शुद्ध प्रेम नहीं प्राप्त होता है—

पुण्यहीना नराः ये तु प्रेम किं प्राप्नुवन्ति ते।
बिना सुकृत संबंवं निधानं केन लभ्यते॥—मान० ५।१९।१०८९

सोमेश्वर ने अभिमानिका, अभ्यासिका, पालिका तथा वैषयिका प्रीतियों का उल्लेख किया है। अभिमानिका प्रीति पुत्र, मित्र तथा भृत्यादि के साथ होती है। कलत्र की प्रीति को अभ्यासिका कहा जाता है। स्त्रियों से एकदशायं प्रीति को पालिका तथा दर्शनमात्र से उत्पन्न होने वाली प्रीति वैषयिकी प्रीति है। प्रीति के उत्पन्न हो जाने के अनन्तर जिस रस का प्रादुर्भाव होता है, वह प्रेम कहाता है।

प्रीतौ विषयजातायां किं रसा यत्र जायते।
सर्वोत्कर्षवती तस्मात्सा प्रीतिः प्रेम कथ्यते॥—मा० ५।१९।१०६३

श्रेष्ठ नारियों से शुद्ध प्रेम बड़े भाग्य, बड़े पुण्य एवं पूर्व जन्म के किए गए शुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है। प्रेम पूर्व जन्म के पुण्य से प्राप्त होता है। सर्प भयंकर होते हुए भी मणि से सुशोभित है, सुखदायिनी ज्योत्स्ना कमल को नहीं प्रिय लगती, उसी प्रकार पूर्व जन्म के कर्मानुसार प्रेम सब के साथ नहीं होता। प्रेम समुत्पन्न होने पर निर्मल चन्द, मलय पवन, भूषण, रत्न, सुन्दर वस्त्र, सुगंधि, गंध विलेपन, कर्पूरमिश्रित ताम्बूल, मनोहर वाद्य, स्वच्छ गृह, सुखदायिनी शय्या, रम्य भोजन, मधुर गीत, वीणा, वेणु, विनोद, शृंगार, काव्य, सुंदर भ्रूवाली तरुणी उपकरणों द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है

अंतःपुर के जितेन्द्रिय अध्यक्ष से प्रेम करने की शिक्षा प्राप्त करके राजा अपनी प्रेयसी के

गृह जाता था। प्रेयसी के द्वार के अवरोधनाध्यक्ष को वह अनेक आभूषण देकर चाटुकारिता से भरे वाक्य बोलता था। राजा पिशुन की शिक्षा प्राप्त करके प्रेयसी के समक्ष पहुँच कर प्रेम भरे चाटु वाक्य कहता था। राजा ताम्बूलधारिका तथा अन्य स्त्रियों के साथ अंतःपुर में प्रवेश करता था और स्त्रियों को प्रिय लगने वाले अनेक प्रकार के कथन करता था। इस प्रकार वह अपनी वल्लभा के घर जाता था। वहाँ प्राणवल्लभा की दूती उसके विरह का दुःखद वर्णन करती थी जिसे सुन कर राजा वल्लभा के साथ क्रीड़ा करके उसकी अभिलाषा को पूर्ण करता था। इसके अनन्तर राजा फिर अपनी प्रिया के मंदिर में जाता था जहा वह विरह व्याकुल पड़ी रहती थी। राजा जा कर उसे आश्वासन देता और उसका विरह हरण कर उसके साथ क्रीड़ा करता था। यही संक्षेप में प्रेम लीला या प्रेम क्रीड़ा है, जिसका वर्णन सोमेश्वर ने बड़े विस्तार के साथ किया है।

रति-क्रीडा

इस क्रीडा का सम्बन्ध विशेष रूप से गणिका सम्बन्धी रति से है। महाराजा सोमेश्वर ने लिखा है कि प्राचीन भारत के राजा नगर की श्रेष्ठ वेश्याओं द्वारा अपने कामोद्गार को प्रशांत करता था। इस प्रसंग में गणिका का पसंद किया जाना, उसके गृह गमन तथा उसके साथ रति का वर्णन किया गया है।

वेश्या के साथ रति की इच्छा जाग्रत होने पर राजा हाथी पर चढ़ कर दिन में वेश्या के यहा जाता था। इस समय राजा के साथ शस्त्रधारी सेवक, प्रतिहारी, भृत्यों तथा मार्ग से जनता का निवारण करने वाले अनेक व्यक्ति साथ में रहते थे। साथ में वाद्यवादन करने वाले अनेक कलाकार भी रहते थे। वेश्याओं के स्थान पर पहुँचने पर व्यक्तियों तथा प्रतिहारियों एवं मार्ग से जनता का निवारण करने वाले व्यक्तियों और भृत्यों के कोलाहल को सुनकर तथा गज घटा, शंख काहल आदि वाद्यों को श्रवण कर कुवेर से स्पर्धा करने वाले ऐश्वर्यवान् राजा के दर्शन हेतु विकसित पद्म के सदृश मुख, नील कमल के सदृश नेत्र, शिरीष पुष्प के सदृश बाहुवाली श्रृंगार से युक्त-वारविलासिनियाँ बाहर निकलती थीं और राजा को देख कर कामातुर हो जाती थी। वारविलासिनियों में कोई अर्धचन्द्र के सदृश तिलक, कोई चरणों में कंचन नूपुर, और कोई वाम हस्त में पाश तथा दक्षिण में माला ग्रहण किये रहती थीं और राजा का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती थीं। राजा उन सुधा रश्मि के समान मुख कांति, दाडिम सदृश दंत पंक्ति, मृग सदृश चंचल लोचन, रंभास्तम्भ सदृश जघन-स्थल, कोकनद की छाया सदृश पदयुग्म से सुशोभित अनेक युवतियों को देखता था। इसके अनन्तर राजा प्रिय लगने वाली गणिका की ओर संकेत करके उसके समीप सचिवों को भेज कर राजप्रासाद लौट आता था। उसी सायंकाल को राजा सुवासित जल तथा सुगंधित लेपों से स्नान करता था। इसके अनन्तर वह काम-वृत्ति को वृद्धि देने वाले भोजन को ग्रहण करता था जिसमें गोधूम चूर्ण की रोटी, घृत, लवणादि मिश्रित पकाया हुआ मत्स्य, वाराह मांस, कूष्मांड फल का मीठा शर्करा युक्त पदार्थ (हलुआ), दुग्ध में पकाया हुआ धात्री फल तथा अन्य पौष्टिक पदार्थ होते थे। भोजन के अनन्तर सुस्वादु स्निग्ध भैंस के दुग्ध को घृत में सम्मिलित करके काम वृद्धि के हेतु ग्रहण करता था

इन कृत्यों को समाप्त कर के राजा उन मन्त्रियों को बुलाता था जो वेश्या के पास से लौटे

हैं। वे सम्वाद देते थे कि वेश्या विशेष प्रतीक्षा में रत है। इसके अनन्तर राजा शृंगार करता था। सुंदर वस्त्रों-आभूषणों से सुसज्जित होकर ताम्बूल चर्वण कर के, कर्पूर से शरीर को सुवासित कर, स्वर्णभूषण धारण कर, भृत्यों, खण्ड चमरधारियों, स्वामिभक्तों, कृतज्ञों, विश्वासपात्र भटों, वस्त्रग्राहकों, स्वर्णग्राहियों, ताम्बूलधारकों तथा परिहास में चतुर व्यक्तियों के साथ वेश्या के गृह की ओर यात्रा करता था। इसके अनन्तर राजा वेश्या के गृह पहुँचता था। वेश्यावाट के अग्रभाग में वेश्या के अनेक सेवक, पडरिका, असिधेनु, वाण, भाला, दण्डशंख धारण किए हुए रक्षा के लिए पहरा देते थे। इनके अतिरिक्त कोई सुभट हेम शृंखला लिए, कोई तलवार धारण किये, और कोई घोड़े से सवार रक्षार्थ घूमते-फिरते थे। सेवकों, अंगरक्षकों तथा विटों के अतिरिक्त अनेक कुट्टिनियाँ भी वेश्या के यहाँ विद्यमान रहती थीं। राजा उन्हें प्रसन्न करने के लिए वस्त्राभूषण देता था। ये राजा से द्रव्य लेकर ही उसे अंदर जाने देती थीं। मार्ग (दहलीज) में वेश्या के सेवक (वेश्या के) अंगों की शोभा का वर्णन करके राजा की काम-वृत्ति को परिवर्धित करते थे। अब वेश्या आती थी। वह राजा को दंतिदंत पलंग पर बैठाती थी। राजा के (सुवासित जल से) पादप्रक्षालन करती थी और कर्पूर मिश्रित ताम्बूल प्रदान करती थी। राजा काम की वृद्धि के लिए उसके हस्त का स्पर्श करता था। वेश्या के कर-पीडन के अनन्तर, वह चाटुवाक्यों का उच्चारण करता हुआ समीप जाता था और बिम्बफल के सदृश ओष्ठों का स्पर्श कर आलिंगन द्वारा कुचद्वय को पीड़ित करता था। फिर वह शनैः-शनैः जंघा-स्थल का स्पर्श करता था और लज्जा निवारण के लिए नीवी-मोचन करता था और हस्त पल्लवों द्वारा उसके पृष्ठ भाग पर सरल स्निग्ध प्रहार करता था। इसके अनन्तर सम्भोग और सम्भोग के बाद मधुर वार्तालाप होता था। धन, वस्त्र आभूषणों के उपहार द्वारा उसे प्रसन्न कर राजा स्वमंदिर के लिए प्रत्यागमन करता था। सोमेश्वर का आदेश है कि देश, काल, और जाति समझ कर वेश्या के साथ संभोग करना चाहिए—'विज्ञाय देशकालौ च रतिं कुर्वंति भूपतिः''। सोमेश्वर ने वेश्याओं के जाति, वर्ग तथा भेदों का उल्लेख करते हुए उनके साथ सम्भोग की प्रविधि का वर्णन भी किया है। ये वर्णन यथार्थ तथा कलात्मक हैं। महाराज सोमेश्वर महान् शासक, मनोवैज्ञानिक कवि तथा कलाकार थे। उन्होंने प्राचीन भारत के सांस्कृतिक जीवन का पूर्णाभास 'मानसोल्लास' में दिया है। सी ग्रन्थ में प्राचीन भारत के निम्नलिखित मनोविनोदों का भी उल्लेख किया गया है—

(१) शस्त्र विनोद, (२) शास्त्र विनोद, (३) गजवाह्याली विनोद, (४) वाजिवाह्याली विनोद, (५) अंक विनोद, (६) मल्ल विनोद, (७) कुक्कुट विनोद, (८) लावक युद्ध, (९) मेष-युद्ध विनोद, (१०) महिष विनोद, (११) पारावत विनोद, (१२) सारमेय विनोद, (१३) मत्स्य विनोद, (१४) मृगया विनोद, (१५) गीत विनोद, (१६) वाद्य विनोद, (१७) नृत्य विनोद, (१८) कथा विनोद, (१९) चमत्कृत विनोद। इन विनोदों के विषय मे भी महाराज सोमेश्वर ने सविस्तार लिखा है।

गोपालन संबंधी कश्मीरी शब्दावली*

डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त

(१) कश्मीरी में घ, झ, ढ, ध तथा भ ध्वनियाँ नहीं हैं।

(२) कश्मीरी की स्वर ध्वनियों को, ध्वनि-चिह्न न होने से हिन्दी स्वरों के ध्वनि चिह्नों से ही संतोष करना पड़ रहा है।

गाय को **गाव** कहा जाता है। गोमाता के अर्थ में **गावमऽजि** आता है। पशुपालन के भाव मे **गुपन रछिन** आता है। गुपन का अर्थ गाय-बैल से ही है, भेड़-बकरी आदि पशुओं से नहीं। रछिन का अर्थ रक्षण से है।

कश्मीर के लिए लोकभाषा में **कशीर** तथा कश्मीरी को **कशर** कहते हैं। उदाहरण के लिए यहाँ लंबी लौकी के लिए **कशर अल्** (सं० अलाबु) चलता है, जिसके लिए यह विश्वास है कि यह कश्मीर की उपज है पर इसके विरोध में कोंहड़े या काशीफल को **परिम अल्** कहा जाता है। यहाँ परिम से अर्थ है बाहरी या परदेशी। इसी प्रकार कशिर गाव वह गाय है जो कश्मीरी नस्ल से हो। यहाँ बैल और साँड़ दोनों के लिए **दांद** (सं० दम्य ?) शब्द ही प्रयोग में होता है। कशिर गाव छोटी और साधारण होती है। खाती भी कम है। **परिम गाव** बाहर की गाय और बाहर के साँड की नस्ल से संबंधित होती है। यह देखने में कशिर से बीस ही होती है। खाती भी अधिक है। इसके संबंध में कथा (उक्ति) है—'पऽरिम गाऽव छु टकनस मऽजि पकुन।' इन दोनों के बीच की श्रेणी है **गोल परिम गाव** =कशिर गाव हो पर साँड़ बाहरी नस्ल का हो। यह दूध भी अच्छा देती है और परिम की अपेक्षा खाती भी कम है।

रंग के आधार पर गाय के नाम

कहृत् गाव—कृष्णा गौ के लिए आता है।

शाल गाव—श्याल (सियार) के रंग की गौ।

गुर गाव—लाल रंग की गाय। B का० गुर=घोड़ा

मऽदर गाव—कर्बुर या कबरी गाय।

पोशदर—पोश (पुष्प) की भाँति सुंदर।

स्वभाव के आधार पर कुछ नाम—

ढोलल गाव—वह गाय जो हर समय सींगों से मारे या औंकारे।

त्रोश गाव—जो गाय मामूली आहट से भी छटपटाए।

लतल गाव—लात चलानेवाली गाय।

---

* ग्रा० श०—ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली—लेखक द्वारा लिखित प्रकाशक दिल्ली।

लोगल गाव—जो खेत खाने जाय या बागों को नुकसान पहुँचाए।

सोद गाव—सीधी स्वभाव की गो

दविज गाव—बहुत दूध देने वाली गो। सं० दुघा=दूध देने वाली गाय।

रूप के आधार पर—

कन चऽट गाव—जिस गाय के कान कटे हों।

कनत्रकऽट गाव—जिसके कान खड़े रहते हों।

लऽटि चट गाव, लऽटि खऽट गाव } —जिसकी दुम कटी हो। लऽट=पूँछ (सं० लट्वा)।

वहऽर गाव—जो प्रति वर्ष बच्चा दे।

हऽठ—ठाँठ गाय।

हार गाव—आषाढ़ (का० हार) में बच्चा देने वाली गो। इस मास के बच्चे कमजोर माने जाते हैं इसीलिए कथा है 'हार वोछ छु आसानल्योच्=हार मास का बछड़ा (छु=है) कमजोर होता है।

वुछ, वुछ्—बाछा। सं० वत्स।

वछर—बछिया।

होखर—कलोर या ओसर की अवस्था अर्थात् गाय के सयानी होने पर।

दांद लगनि, मथनावन्य, दांद खारनि } —जब कलोर दाँद=बैल या साड़ से संयोग की इच्छा प्रकट करे।

लजमऽच, वऽलि बनिरांजन्य } —जो गाय एक बार में ही गर्भ धारण करे।

ब्रेशमऽच—जिसके पीछे दो तीन दिन तक बैल फिरे तब वह ठहरे।

वऽलिबनिगाव—गर्भवती गाय।

प्रसनस तैयार गाव—नौ मास पूरे होने पर प्रसव के लिए तैयार गाय।

वुय वालुन—प्रसव के दिन निकट आने पर जब गाय थन करने लगती है।

दोद वालुन—जब थन में दूध उतर आता है। वालुन=उतरना, आना।

छत्रावन्य—प्रसव के पूर्व योनि से स्राव होना। छत् किसी भी त्याज्य या निकृष्ट पदार्थ को कहते हैं।

पां वस्तूर, आव वस्तूर } —प्रसव के साथ जो पानी का थैला बाहर आता है। पाँ=पानी, बस्तूर=थैला।

प्रसुन—प्रसव के अर्थ में।

तोथ—प्रसव के समय किसी के रहने से गाय चौंकती है इससे प्रसव में बाधा पड़ती है इस भाव के लिए तोथ शब्द आता है।

वापसफेरन्य, अधगछन्य, फीरियद्वन्य } —गर्भ के न ठहरने या गर्भ स्राव के अर्थ में आता है।

छलिन वाय चावल के धावन का धोन्य पानी (सं० वन) यह पानी गर्भ स्थापक माना जाता है। जिस गाय का गर्भ गिर जाता हो उसे यह पानी पिलाते हैं। चावल को तोमल (सं० तंडुल) कहते हैं। चावल के टुकड़ों को **तोमल च्युट** कहते हैं। इसी को पानी में भिगोते हैं।

ल्यवुन—चाटना। गाय तुरंत जन्मे हुए बच्चे को चाटती है इसे ही **ल्यवुन** कहते हैं। सं० लिह्=चाटना।

पिशिजार—बच्चे के ऊपर जो चिकना झोझदार मल लगा रहता है उसे पिशिजार कहते हैं।

कोठि दरऽनि—चाटने से बच्चे के घिट्नों में बल आ जाता है और वह उठने का प्रयास करता है। **कोठि**=घुटना। यहाँ घुटनों में बल आने का भाव है। सं० घुंटक=घुटना। मं० घोंटा, गुज०-घूंटो।

बब—थन या चूची। तु० सं० पयोधर।

बबकुमलावऽनि—थन को पानी या घी लगाकर कोमल बनाने के अर्थ में। घी को गरम कर पिघलाने के लिए भी कुमलावनि आता है।

दोध चोन ह्यछिनावुन—बच्चे को दूध पीना सिखलाना। बच्चे को थन के पास ले जाकर उसके मुंह मे चूची को देते हैं। इसे हिं० में बच्चा चटाना या थन लगाना कहते हैं।

दोद, द्रवद (द्रवव)—दूध। सं० दुग्ध।

खऽदऽर—आरंभ के दूध को कहते हैं जिसे हिंदी में पेउस (सं० पीयूष) कहा जाता है।

लिन्य—चिकनाई जो नवजात बच्चे के दाँतों में होती है।

दंद तोलुनि—बच्चे के दाँतों को अँगुली से रगड़ा जाता है ताकि मुँह का मल साफ़ हो जाय। इसे ही दद तोलुनि कहते हैं। **दंत**=दांत। **तुल**=उठाना। **तुलनि**=उठान।

मसाला—गाय को ताक़त देने के लिए निम्न वस्तुएँ मिला कर पिलाते हैं—लेदऽर =हल्दी, शोंठ, अंडा (का० ठोल), तेल (का० तील) सब मिला कर देते हैं। इसमें खऽदऽर अर्थात् पेउस को भी मिला लेते हैं।

फ्योक खारुन—बछड़ा (**का०** बछ़) के कंधे को ऊपर उठाने के लिए उसे धीरे-धीरे दोनों हाथों से उठाते हैं, इसे ही **फ्योक** (कंधा) खारुन कहते हैं।

हल श्रावुन—बच्चे के जन्म के बाद जो खेढ़ी या जेल या अँवर (सं० उल्व) निकलता है, उसे ही **हल श्रावुन** कहते हैं।

हल नार—खेढ़ी जब योनि से नाड़ी की भाँति लटकती दिखाई पड़ती है तो उसे हल नार कहते हैं।

कसरी—**हल खेढी** को किसी **गड्ढे** में गाड दिया जाता है यदि गाय **इसे** खा जाय

तो उसके दूध सूख जाता है और गाय **कसरो** स० कृश) हो जाती है यदि गाय खा जाय तो उसे जुलाब दिया जाता है।

फोटिन्रेश—ग्यारह दिन गाय को उबाला पानी देते हैं। **त्रेश**=पीने का पानी। (सं० फाण्ट; काढ़ा, तृषाह=पानी)।

रोस—व्याई गाय को प्रतिदिन गेहूँ (**काश्मीरी कनक**) **सुठ**=सोठ तथा जौ (का० वुश) का उबाला रस देते हैं इसे ही रोस (रस) कहते हैं।

छोंछ—अशौच। ग्यारह दिन तक गाय का दूध अपवित्र मानते हैं।

गुरुस—मठा। अवधी में मठा के लिए गोरस शब्द प्रचलित है। स० में गोरस दूध, दही, तक्र तीनों के लिए आता है।

थऽञ्—मक्खन। सं० मंथज। प्रत्येक दिन के **खडदर** (हि० पेउस) को एक मिट्टी के पात्र में एकत्र करते जाते है। दूध दुहने पर उसे गरम कर के उसी पात्र में डालते जाते है। ग्यारह दिन के बाद उसे जमे हुए या फटे हुए दूध का मंथन (का० मन्दुन) करते हैं। निकले हुए मक्खन को थऽञ् कहते हैं और शेष पानी को **गुरुस** (हि० गोरस) कहते हैं।

युवनुक पनि—प्रथम व्याई हुई गाय अर्थात् पहिलौंठी की गाय को कहते हैं।

युवनऽचि वछर, युव नुक बाछ } —नव जात शिशु को कहते है।

सोदप्यावल—बच्चे के जन्म के छः सात मास तक गाय का यह नाम है। (सोद < स० मद्यः)

बोछुन दोद—छः मात मास के बाद दूध गाढ़ा होने पर उस दूध को **बोछुन दोद** कहते हैं। हिंदी में ऐसे दूध को बाखरा और ऐसी गाय या भैंस को बकेन, बकेना कहते हैं। दे० ग्रा० श० पृ० ६७। सं० में ऐसी गाय को बष्कयणी, बष्कयिणी कहते हैं। बोछुन भी सं० वष्कयिणी से संबधित होगा।

गाव च्यावनि—गाय दुहना।

बाछ रटुन—बछड़ा पकड़ना।

कऽञ् बब—कानी चूँची, जिस चूंची से दूध कम निकले और वह छोटी भी हो। दे० ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली, पृ० १७।

दुधोद खट्वञ—दूध चुराने वाली। खट्वञ्=छिपाना। दे० चोरकटि या चुट्टी (ग्रा० श०, पृ० ६७)।

बबफचिमऽव्—थन फटे होना या चूँची में दरारें पड़ जाना। दे० खर्रा (ग्रा० श० पृ० ६७)।

गोह मथुन—बच्चा थन में मुँह न लगाए इसलिए थन पर गोह=गोबर लगा देना। **दे० चूँची गोबराइब** (ग्रा० श० पृ० ६७)।

बब गऽण्डुन उपर्युक्त अभिप्राय से जब थन को कपड़ से बाँध देते हैं

ठठऽजि गाव—वह गाय जिसका बच्चा मर गया हो और सामने दाना या चारा देने पर लगती हो। तु० ठाठ (ग्रा० श०, पृ० ६७)।

द्वोद रटुन—दूध में कमी कर देना। दे० चोरकटि या चुट्टी (ग्रा० श०, पृ० ६७)।

गाव—गोशाला।

टिक्योली—वह खूँटा जिससे गाय को बाधते हैं।

जामुत दोद—दधि।

ग्येव—घृत।

हर—सं० सार, हि० साढ़ी।

बुलन्दशहर की बोलियों का ध्वनिग्रामिक अध्ययन*

श्री महावीर सरन जैन

०.१—

इस निबन्ध का उद्देश्य ब्रजभाषा और खड़ी बोली के सन्धिस्थल-बुलन्दशहर तहसील में प्रयुक्त बोलियों का ध्वनिग्रामिक अध्ययन प्रस्तुत करना है। इस तहसील की बोलियों की अपनी विशिष्टतायें हैं जो ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों से पृथक् हैं एवं दोनों के योग से उत्पन्न है। इसके उत्तर में जिला मेरठ (खड़ी बोली क्षेत्र) की सीमा है और दक्षिण में तहसील खुरजा और जिला अलीगढ़ (ब्रजभाषा क्षेत्र) की सीमाएँ व्याप्त हैं। लेखक स्वयं इस क्षेत्र-भाषा का बोलने वाला [Native speaker] है।

१.०

बुलन्दशहर तहसील की बोलियों की ध्वनिग्रामिक प्रणाली (Phonemic-system) में २९ व्यजन, १० स्वर, १ अनुनासिकता एवं १ विवृत्ति (Juncture) है। इस प्रकार कुल ४१ ध्वनिग्रामों का समूह है जिसमे ३९ (स्वर एवं व्यंजन), खंड ध्वनिग्राम (Segmenal, phonemes) एवं २ (अनुनासिकता एवं विवृत्ति) खंडेतर—ध्वनिग्राम (Supra-segmental phonemes) हैं।

१.१.

सर्वप्रथम हम खंड ध्वनिग्रामों का विवरण प्रस्तुत करेंगे—

२९ व्यंजनों में—२० स्पर्श, २ संघर्षी, ३ नासिक्य, १ पार्श्विक, १ लुंठित एव २ अर्द्ध स्वर हैं।

स्वरों में ४ अग्रस्वर (Front Vowels), ५ पश्च स्वर (Back Vowels) एवं १ केन्द्रीय स्वर (Central Vowel) है।

१.१.१

इन स्वरों को मानस्वर में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। इसका चित्र७६ पष्ठ पर देखें।

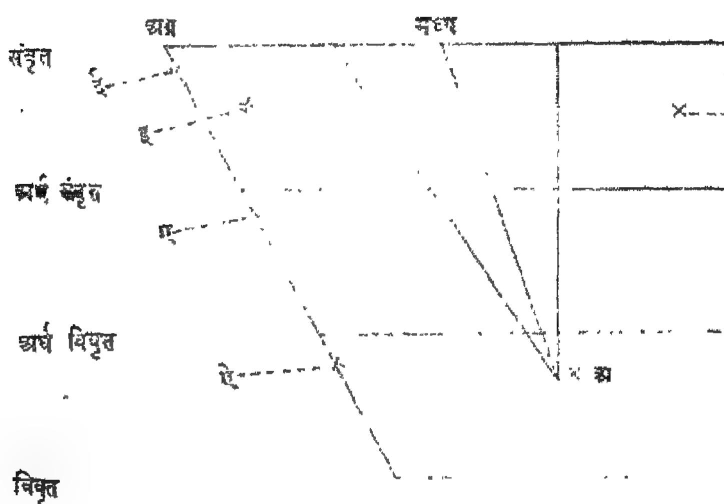
१.१.२

व्यंजन ध्वनिग्रामिक गठन (Phonemic structure of consonants)—

उनतिस (२९) व्यंजन ध्वनियाँ परस्पर भिन्न एवं भाषा के अन्दर महत्त्वपूर्ण

*यह निबन्ध डा० तिवारी, एम० ए० डी० लिट् के निर्देशन में

(distinguished sound) है समता के गण कुछ सीमित उच्चारणगत भिन्न tory-differences) है। यही उच्चारणगत भिन्नताएं ही विशेष-लक्षण (distinc हैं। यह लक्षण (Features) इस प्रकार संयोजित है कि प्रत्येक ध्वनि दूसरी लक्षण (distinctive-Feature) रखती है अर्थात् प्रत्येक ध्वनि प्रत्येक अन्य ध्व एक विशेष लक्षण की भिन्नता अवश्य रखती है। अस्तु, ध्वनियां इन लक्षणों वर्गों में शृंखलाबद्ध की जा सकती हैं यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सांचा (Pattern) उपलब्ध ही हो।



१.१.२.१.

महाप्राण अल्पप्राण

भाषा के अन्दर कुछ वर्गों की ध्वनियों में अल्पप्राण और महाप्राण व्यतिरेक मिलता है। उदाहरणस्वरूप इस प्रकार का युग्म अल्पप्राण ।क ।ख्। का है।

कुछ भाषा-शास्त्रियों ने ध्वनिग्रामिक विवेचन में महाप्राण ध्वनिग्राम ध्वनि+'ह्' गुच्छ (cluster) प्रस्तावित किया है। 'एलीमेन्ट्स आफ फोनोलोजी' ने इसी प्रकार का प्रस्ताव रखते हुए कहा है—

"संस्कृत तथा हिन्दुस्तानी जैसी कुछ अन्य आधुनिक भाषाओं अल्पप्राण तथा महाप्राण चतुर्वर्गीय ध्वनियों वाला कहा जाता है परन्तु उन में महाप्राण (सघोष हो या अघोष) प्रकट ही ।ह्। ध्वनिग्राम है जो अन्यत्र यह केवल द्विमार्गीय ढंग का वैसादृश्य उपस्थित करता है।"

किन्तु उच्चारण शास्त्र और भाषा के सांचे (Pattern) दोनों दृ महाप्राण एवं घोष महाप्राण—अघोष अल्पप्राण और घोष अल्पप्राण से पृथ के रूप में हैं चार्ल्स हाकेट के मत का प्रो० विलियम ब्राइट ने अप

भाषाओं में महाप्राण व्यजन"[1] में सबल तर्कों द्वारा कर दिया है इसलिए इस बारे में यहाँ कुछ लिखना उन तर्कों की ही पुनरावृत्ति होगी।

भाषा के निम्न विपरीत युग्मों के ध्वनिग्रामों की भिन्नता केवल 'प्राण' के आधार पर है, युग्म का प्रत्येक सदस्य एक दूसरे से केवल 'प्राण' के आधार पर भिन्न है। 'प्राण' के आधार पर व्यंजन-युग्म इस प्रकार हैं—

अल्पप्राण—प् ब् त् द् ट् ड् च् ज् क् ग्।

महाप्राण—फ् भ् थ् ध् ठ् ढ् छ् झ् ख् घ्।

भाषा की समस्त प्रणाली में इन व्यंजनों को छोड़ कर महाप्राणत्व विशेष-लक्षण (distinctive-Feature) नहीं रह गया है।

कुछ भाषा-शास्त्री ।म्। ।न्। ।ल्। एवं ।र्। ध्वनिग्रामों के महाप्राण ध्वनि रूप ।म्ह्, न्ह्, ल्ह्, एवं र्ह्। मानते हैं। किन्तु यहां ।ह्। ध्वनिग्राम की संहिति गुच्छ (cluster) के रूप में मानना उचित होगा। यों बुलन्द शहर की बोलियों का विश्लेषण करते समय इस प्रकार की कोई समस्या ही उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि यहां ।म्+ह्, न्+ह्, ल्+ह् एवं र्+ह्। के गुच्छ ही उपलब्ध नहीं होते हैं। अर्थात् किन्हीं भी दो उच्चारणों (utterances) में ।म्-।न्। ।ल्। ।र्। के महाप्राणत्व से व्यतिरेक (contrast) नहीं मिलता है।

१. १. २. २.

घोष-अघोष

अल्पप्राण-महाप्राण की भांति ही घोष-अघोष का भेद भी कुछ व्यंजनों को विरोधी-युग्मों (opposed-pairs) में संगठित करता है। घोष के आधार पर व्यंजन-युग्म निम्न प्रकार है :—

अघोष—प् फ् त् थ् ट् ठ् च् छ् क् ख्।

घोष—ब् भ् द् ध् ड् ढ् ज् झ् ग् घ् ।

भाषा के अन्दर कुछ व्यंजन इस प्रकार की कोटि में आते है जो सामान्यत: घोष हैं किन्तु जो अघोष-व्यंजनों के युग्म बनाने में असमर्थ है। ये ध्वनियाँ निम्न हैं—

नासिक्य—।म्। ।न्। ।ङ्।

पार्श्विक—।ल्।

लुंठित—।र्।

अर्द्ध स्वर—।व्। एवं ।य्।

१. १. २. ३.

उच्चारण-प्रयत्न एवं स्थान की दृष्टि से

ध्वन्यात्मक (Phonetic) आधार पर व्यंजनों के उच्चारण-प्रयत्न एवं स्थान के आधार पर वर्गीकरण का निम्न रेखा चित्र में प्रस्तुत किया जा सकता है

	द्वयोष्ठ्य		दन्त्य		वर्त्स्य	मूर्द्धन्य		तालव्य	
स्पर्श	प् फ्	ब् भ्	त् थ्	द् ध्		ट् ठ्	ड् ढ्		
स्पर्श-संघर्षी								च् छ्	ज् झ्
नासिक्य	म्				न्				
पार्श्विक					ल्				
लुंठित					र्				
संघर्षी					स्				
उत्क्षिप्त									
अर्द्धस्वर	व्							य्	

२.४.

सम्बन्धी संगति की दृष्टि से [Structural-Symmetry]

हमारा ध्वनिग्रामिक गठन अधिक संगत हो सकता है यदि हम ध्व
त्मक स्थिति को विस्मरण कर, ७ उच्चारण प्रयत्नों एवं उच्चार
ण प्रयत्न एवं उच्चारण स्थान मान लें। ऐसा मान लेने पर हमारे

		द्वयोष्ठ्य		वर्त्स्य		मूर्द्धन्य		तालव्य	
स्पर्श		प फ्	ब् भ्	त् थ्	द् ध्	ट् ठ्	ड् ढ्	च् छ्	ज झ्
अनवरोधी	नासिक्य	म्		न्		×		×	
	पार्श्विक			ल्					
	लुंठित			र्					
	संघर्षी			स्					
	अर्द्धस्वर	व्						य्	

× यह चिह्न भाषा के संधि [Pattern of] c के स
त कर रहा है

इस रेखा-चित्र में दो परिवर्त्तन किए गए हैं—

(१) ।त् थ् द् ध्। को दन्त्य वर्ग के अन्तर्गत न रख कर वर्त्स्य में रखा गया है।

(२) ।च् छ् ज् झ्। को स्पर्श संघर्षी [Affricate] में न रख कर 'स्पर्श' (stops) के एक ही वर्ग के रूप में रखा गया है।

(१) यद्यपि ।त् थ् द् ध्। का उच्चारण स्थान दन्त्य ही है किन्तु भाषा के वितरण (Distribution) और साँचे (Pattern) को लक्ष्य करके ऐसा किया गया है।

(२) स्पर्श-संघर्षी ।च् छ् ज् झ। को 'स्पर्श' वर्ग में अन्तर्भुक्त कर लेने से २० स्पर्श ध्वनिग्रामों का संगतमय साँचा (Symmetrical Pattern) उपलब्ध हो जाता है। "अंग्रेजी भाषा के अन्तर्गत तो स्पर्श और स्पर्श-संघर्षी व्यंजनों के वितरण में अनेक भिन्नतायें हैं किन्तु हमारी बुलन्दशहर की बोलियों एवं हिन्दी की अन्य बोलियों में भी ऐसा नहीं है। दो ध्वन्यात्मक-ध्वनि रूपों [phonetic sound-types] का साँचा बहुत सी दृष्टियों से एक है। इसलिए 'स्पर्शसंघर्षी' व्यंजनों को एक अलग वर्ग में न रख कर, स्पर्श वर्ग की ही ध्वन्यात्मक भिन्न शाखा मान लेना संगत है।"[1]

१.१.३.

ध्वनिग्रामों का वितरण [Distribution] **एवं सहस्वनग्रामिक कथन** [Allophonic Statement]

इस प्रकरण के अन्तर्गत हम प्रत्येक स्वर एवं व्यंजन ध्वनिग्राम की उपस्थिति बताते हुए परिपूरक वितरण [Complementory distribution] के सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक ध्वनिग्राम के सदस्य सहस्वनग्राम [Allophone] का विवरण प्रस्तुत करेंगे। पुनः अगले प्रकरण में स्वल्प युग्म [minimal pairs] एवं उपस्वल्प युग्म [Sub-minimal pairs] के आधार पर ध्वनिग्राम द्वारा उच्चारण [utterance] में व्यतिरेक [Contrast] प्रदर्शित करेंगे।

१.१.३.१.

सर्वप्रथम हम स्वरीय ध्वनिग्रामों का वितरण एवं उनके सहस्वन रूप प्रस्तुत कर रहे हैं:—

(I) ।ई।—यह सम्वृत्त अग्रस्वर है। इस ध्वनिग्राम का एक ही सहस्वन [ई] है जो आपसी वातावरण से प्रत्याकर्षण, दीर्घत्व आदि से प्रभावित होता है। यह प्रभाव इन शब्दों में देखा जा सकता है—ईख, ईंट, महीना, बोली। सभी स्वर आपसी वातावरण से प्रभावित होते है किन्तु ध्वनिग्रामिक दृष्टि से हम प्रत्येक स्वर के वातावरण -प्रभाव पर दृष्टिपात नहीं करेंगे।

(II) ।इ।—यह ।ई। की अपेक्षा कम उच्चस्थानीय सम्वृत्त अग्रस्वर है।

वितरण के आधार पर इसके दो सहस्वन उपलब्ध होते हैं :—

[इ] आदि, मध्य में स्वर-संयोगों में; व्यंजन के पश्चात् एवं अन्त्य में उपलब्ध होता है :

[इन्औंने] [गुअ+इ] [भूब्अलइया]

१ An Introduction to Descriptive Linguistics H. A Gleason

[इ॒] = 'अ' स्वर के बाद आकर सन्ध्यक्षर [Dipthong] का रूप धारण करती है।

[ग्अइ॒या]

(III) /ए/—यह अर्द्धसम्वृत अग्रस्वर है। आदि, मध्य एवं अन्त्य में आ सकता है। यथा : एक, बहोतेरे।

(IV) /ऐ/—यह अर्द्धविवृत अग्रस्वर है। यथा : ऐसा, कैसा, सबे।

(V) /अ/—यह अर्द्ध-विवृत मध्य-स्वर है। शब्दों के अन्त्य में साधारणतः /अ/ का उच्चारण नहीं होता। किन्तु अन्त्य में जब संयुक्त व्यंजन (Consonant-cluster) आता है तब यह स्वर रेचित (Release) हो जाता है। यथा : अचम्भा, अंबर, कम् [क्अम्] खर्च [ख्अर्च्अ]

(VI) /ऊ/—यह सम्वृत पश्चस्वर है। यथा : ऊन्, सूत्र्, सबकू।

(VII) /उ/ यह /ऊ/ की अपेक्षा कम उच्चस्थानीय सम्वृत्त पश्चस्वर है। इसके दो सहस्वन हैं, जिनका वितरण /इ/ के सहस्वनों की भांति ही है।

[उ]—[उप्पर] [बुरी] [बिच्छू]

[उ॒] [क्अउ॒वा]

(VIII) /ओ/—यह अर्द्ध सम्वृत पश्चस्वर है। यथा : ओटक्, खोपरी, लिक्खो।

(IX) /औ/—यह अर्द्ध-विवृत-पश्चस्वर है। यथा :— औरत् चौपाल् आडी।

(X) /आ/—यह विवृत पश्चस्वर है। यथा :— आगये, आबादी, रुपइया।

१. १. ३. २.

व्यंजन ध्वनिग्राम

स्पर्श

(XI) /प्/—अल्पप्राण अघोष द्वयोष्ठ्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम /प्/ का एक ही सहस्वन [प्] है। आदि, मध्य, अन्त्य में आ सकता है—/पंचायत्/, /उप्पर/, /पाप्/।

(XII) /फ्/ महाप्राण अघोष द्वयोष्ठ्य स्पर्श ध्वनिग्राम /फ्/ का एक ही सहस्वन [फ्] है। आदि, मध्य, अन्त्य में आ सकता है—/फिसाद्/, /सफर्/, /साफ्/।

(XIII) /ब्/—अल्पप्राण घोष द्वयोष्ठ्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम /ब्/ एक ही सहस्वन [ब्] है जो प्रत्येक स्थिति में उपस्थित हो सकता है।

/बदमाश्/, /सबन्/, /आबादी/, कब्/।

(XIV) [भ्]—महाप्राण घोष द्वयोष्ठ्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम /भ्/ का एक ही सहस्वन [भ्] है।

/भारी/, /अचम्भौ/।

(XV) [त्]—अघोष अल्पप्राण वर्त्स्य-स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम /त्/ का ही एक ही सहस्वन [त्] है।

/ताला/, /लत्ता/, /लात्/

(XVI) [थ्] अघोष महाप्राण वर्त्स्य-स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम थ् का एक ही सहस्वन [थ्] है

।थाल्।, ।माथा।, ।साथ्।

(XVII) ।द्। घोष अल्पप्राण वर्त्स्य-स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम ।द्। का एक ही सहस्वन [द्] है।

(दाल्), (दर्द दरद्) (मद्दी) (उम्मीद्)।

(XVIII) (ध्) घोष महाप्राण वर्त्स्य-स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम (ध्) का एकही सहस्वन [ध्] है।

(धाक्) (कन्धा) (साध्)

(XIX) ।ट्। अल्पप्राण अघोष मूर्द्धन्य-स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम ।ट। का एक ही सहस्वन [ट्] है।

[टट्टू] (कलट्टर्) (घन्टा) (खाट्)

(XX) ।ठ्। अल्पप्राण घोष मूर्द्धन्य -स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम ।ठ्। का एकही सहस्वन [ठ्] है।

(ठीक्) (बैठो) (लट्ठ) (साठ्)

XXI ।ड। अल्पप्राण घोष मूर्द्धन्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम के दो सहस्वन हैं [ड] एवं [ड़]

इन दोनों सहस्वनों के वितरण पर विशद् दृष्टिपात करने की आवश्यकता है क्योंकि दोनों द्विस्वरान्तर्गत (Intervocally) आते हैं। कुछ भाषा-शास्त्रियों ने इसीलिए हिन्दी का विश्लेषण करते समय इन्हें एक ध्वनिग्राम के दो सहस्वन न मानकर पृथक् ध्वनिग्राम माना है।[1]

किन्तु कुछ कारणवश हम इन्हें एक ही ध्वनिग्राम के दो सहस्वन मान रहे हैं—

(१) पृथक् ध्वनिग्राम मान लेने पर भाषा के साँचे (Pattern) को बहुत आघात पहुँचता है।

(२) कोई भी दो ऐसे स्वल्प-युग्म (minimal pairs) उपलब्ध नहीं हुए हैं जिनमें केवल—ड—ड़ के कारण व्यतिरेक (contrast) पाया जाता हो।

(३) तीसरा कारण "ध्वनिग्राम" सम्बन्धी यह सिद्धान्त है कि भिन्न ध्वनियाँ जो केवल भिन्न ध्वनिग्रामिक परिवेश (differing phonemic-environments) में आती हैं अर्थात् एक रूप ध्वनिग्रामिक परिवेश (Identical phonemic environment) में नहीं आती हैं, सदैव अव्यतिरेकी वितरण (non-contrastive distribution) में होती हैं।[2]

[ड]—शब्द के आदि में, मध्य में व्यंजन और स्वर के मध्य में एवं संयुक्त व्यंजनों में आता है एवं इस वातावरण में इसका [ड़] के साथ कोई व्यतिरेक नही मिलता है। [ड़] शब्द के अन्त्य में आता है एवं इस स्थिति में इसका [ड] के कोई व्यतिरेक नहीं मिलता है।

समस्या यह है कि दोनों सहस्वन शब्द के मध्य में द्विस्वरान्तर्गत आते हैं। प्राप्त सामग्री के आधार पर हम शब्दों के दो प्रकार के वर्ग मिले हैं जिनमें सहस्वन ड द्विस्वरान्तगत आ रहा है

(१) देशी शब्द

(२) अंग्रेजी से गृहीत शब्द।

खंडित (Segmental) ध्वनिग्रामों के क्रम में उपलब्ध देशी शब्द निम्न हैं—

(अ) आडम्बर्

(आ) निडर्

(३) लौंडा

(४) गांडु

इनमें अन्तिम दो शब्दों में स्पष्टया खंडेतर ध्वनिग्राम [अनुनासिकता] का प्रवेश है। इसके अतिरिक्त चारों शब्दों में अल्पविवृत्ति का भी प्रवेश है। यथा—

(अ) आ+डम्बर्

(आ) नि+डर्

(इ) लौं+डा

(उ) गां+डु

अँग्रेजी से गृहीत शब्द तीन हैं—

(१) रेडियो

(२) सोडा~सोड़ा

(३) रोड्~रोड़्

अन्तिम दो शब्दों में [ड] एवं [ड़] मुक्त परिवर्तन (free-Variation) में है। समस्या केवल (रेडियो) शब्द की है। इसके दो निदान सम्भव हैं—

(१) या तो इसको अपवाद स्वरूप अंग्रेजी से गृहीत शब्द की कोटि में अंकित कर लें।

(२) अथवा इसमें भी अल्प विवृत्ति का प्रवेश मान लें।

भाषा की पद्धति (System) एवं लाघव (economy) को लक्ष्य में रख कर हम दूसरे निदान को पसन्द करेंगे।

इस विवेचन के बाद अपने निष्कर्षों को हम सूत्र रूप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

।ड।

[ड] शब्द के आदि में, मध्य में व्यंजन और स्वर के मध्य संयुक्त व्यंजनों में, एवं अल्प विवृत्ति और स्वर के मध्य आता है।

यथा [डलिया] [कुन्डल] [लड्डु] [गड्ढो] [नि+डर्]

[ड़]—अन्यत्र

यथा—[सड़क्] [पड़ोस्] [थप्पड़्] [मेड़्]

।ओ। ध्वनिग्राम के बाद आने पर दोनों सहस्वन मुक्त परिवर्त्तन (free-Variation) में हैं

यथा

(XXII) ।ढ्।—महाप्राण घोष मूर्द्धन्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम ।ढ। के दो सहस्वन मिलते है [ढ्] एवं [ढ़्]

[ढ्] शब्द के आदि में एवं व्यंजन-गुच्छ के साथ

[ढक्कन्] [बुड्ढा] [गड्ढा] [ठन्ढक्]

[ढ़्]—अन्यत्र

[मढ़इ्या] [माढ़] [बाढ़]

(XXIII) ।च्।—अल्पप्राण अघोष तालव्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम ।च्। का एक ही सहस्वन [च्] है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है। यथा—

।चाक्। ।चल्। ।कच्चा। ।सच्।

(XXIV) ।छ्। महाप्राण अघोष तालव्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम ।छ्। का एक ही सहस्वन [छ्] है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है

।छाक्। ।छल्। ।कछ्छा। ।रीछ्।

(XXV) ।ज्। सघोष अल्पप्राण तालव्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम ।ज्। का एक ही सहस्वन [ज्] है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है। यथा—

।जाट्। ।जल्। ।बंजर्। ।रांज्।

(XXVI) [झ्] सघोष महाप्राण तालव्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम [झ्] का ही सहस्वन [झ्] है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है। यथा—

।झान्। ।झंझट्। ।बोझ्।

(XXVII) ।क्।—अघोष अल्पप्राण कंठ्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम ।क्। का एक ही सहस्वन [क्] है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति मे आ सकता है। यथा—

।काउ। ।सिकरौ। ।सुरक्।

(XXVIII) ।ख्।—अघोष महाप्राण कंठ्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम ।ख्। का एक ही सहस्वन [ख्] है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है।

।खाउ। ।बिखरौ। ।रख्।

(XXIX) ।ग्। सघोष अल्पप्राण कंठ्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम ।ग्। का एक ही सहस्वन [ग्] है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है। यथा—

।ग्राम्। ।बिगर्। ।लंग्।

(XXX) ।घ्। सघोष महाप्राण कंठ्य स्पर्श व्यंजन ध्वनिग्राम ।घ्। का एक ही सहस्वन [घ्] है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है।

।घाम्। ।बघर्रा। ।बाघ्।

नासिक्य

(XXXI) ।म्। द्व्योष्ठ्य नासिक्य व्यंजन ध्वनिग्राम ।म्। का केवल एक सहस्वन [म्] है। शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है।

।माली। ।रूमाल्। ।काम्।

(XXXII) ।न्। वर्त्स्य नासिक्य व्यंजन ध्वनिग्राम ।न्। के तीन सहस्वन हैं [न्] [ण] [ञ्] इनका वितरण इस प्रकार है

[ञ्]—इसका वितरण बहुत सीमित है। केवल व्यंजन संयोगों में अपने वर्गीय [चवर्गीय] व्यंजनों के पूर्व—

[चञ्चल्]

[ण्]—मध्य एवं अन्त्य में

[प्रणाम] [रणवीर] [प्राण्]

[न]—यह सहस्वन प्रत्येक स्थिति में आ सकता है। आदि, मध्य एवं अन्त्य। मध्य में यह [ञ्] के साथ मुक्त परिवर्तन में है एवं [ण्] के साथ यह मध्य एवं अन्त्य रूप में मुक्त परिवर्तन में है।

[नदी] [दिनन्] [सवन्]

[चञ्चल्~चन्चल्]

[प्रणाम्~प्रनाम्] [रणवीर्~रनवीर्] [प्राण्~प्रान्]

रूपतालिका में इन सहस्वनों के वितरण को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

	आदि में	मध्य में	द्विस्वरान्तर्गत	अन्त्य में
ञ्	×	॥ चवर्ग के पूर्व	×	×
ण्	×	×	॥	॥
न्	॥	॥	॥	॥

XXXIII ।ङ।—कंठ्य नासिक्य व्यंजन ध्वनिग्राम ।ङ। का एक ही सहस्वन [ङ] है जिसका वितरण सीमित है। यह शब्द के आदि में कभी नहीं आता केवल शब्द के मध्य व्यंजन संयोगों में अपने वर्गीय [कवर्ग] व्यंजनों के पूर्व में एवं शब्द के अन्त में।

वितरण के सापेक्षिक दृष्टिकोण से देखने पर ।ङ। ही ऐसा ध्वनिग्राम है जो अपूर्ण या दोषपूर्ण ध्वनिग्राम (Defective Phonemc) है।

पार्श्विक

XXXIV ।ल्। वर्त्स्य पार्श्विक ध्वनिग्राम ।ल्। केवल एक सहस्वन [ल्] रखता है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है।

।चौपाल्। ।चिल्लाहट। ।चाल्।

लुंठित

र वर्त्स्य लुंठित ध्वनिग्र म र का केवल एक ही सहस्वन र है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है

।रास्ता। ।रोक्। ।खच ~ खरच्। ।उप्पर्।

संघर्षी [१ संघर्षी एवं १ संघर्षी [ऊष्म]

XXXVI ।स्। वर्त्स्य अघोष उष्म व्यंजन ध्वनिग्राम ।स्। का केवल एक ही सहस्वन [स्] है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है।

।सास्। ।मस्त्। ।नक्सा।

विभिन्न वक्ता इस ध्वनि को अन्य प्रकार से भी बोलते हैं और इस ध्वनि की जगह तालव्य [श्] का उच्चारण करते हैं किन्तु यह भेद व्यक्तिगत (idiolect) या बोलीगत भिन्नताओं (dialectal Variations) में परिगणित होनी चाहिए; सहस्वनिक (Allophonic) में नहीं।

XXXVII ।ह्।—काकल्य अघोष संघर्षी-व्यंजन ध्वनिग्राम ।ह्। के दो सहस्वन हैं [ह्] एवं [ह्.]

[ह्]—शब्द के आदि एवं मध्य (द्विस्वरान्तर्गत नहीं) में आता है।

[ह्र] [हैजा]

[ह्.]—मध्य में द्विस्वरान्तर्गत एवं अन्त में आता है।

[महीना] [माह्.]

प्रायः शब्द के अन्त में [ह्.] का लोप भी हो जाता है और स्वर ध्वनि सुनाई पड़ती है। अर्थात् पूर्ण घोष इसको स्वर में परिवर्तित कर देता है।

अर्द्धस्वर

XXXVIII ।व्। द्वयोष्ठ्य सघोष अर्द्धस्वर व्यंजन ध्वनिग्राम ।व्। का एक ही सहस्वन [व्] है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है। स्वर के साथ सन्निहित होने पर यह संध्यक्षर का रूप धारण करता है।

।वैसा। ।क्वार। ।जबान्।

XXXIX ।य्।

तालव्य सघोष अर्द्धस्वर व्यंजन ध्वनिग्राम ।य्। का एक ही सहस्वन [य्] है जो शब्द की प्रत्येक स्थिति में आ सकता है। स्वर के साथ सन्निहित होने पर यह भी संध्यक्षर का रूप धारण करता है।

।यार्। ।स्यार। ।मूबलिया। ।मइया। ।गइया।

१. १. ४.

स्वल्प युग्म [Minimal pairs] एवं उपस्वल्प युग्म [Sub-minimal pairs]

१. १. ४. स्वर

।इ। ।ई।

।मिल्।

।मील्।

।ए। ।ऐ।

मल

मेला।

।वरा

वरा।

।ओ। ।औ।

।मोल्।

।मौल्।

।अ। ।आ।

।कम्।

।काम्।

।आ। ।ई।

।घोड़ा।

।घोड़ी।

।अ। ।आ। ।ओ। ।औ।

।बल्।

।बाल्।

।बोल्।

।बौल्।

।इ। ।ई। ।ओ। ।औ।

।खिल्।

।खील्।

।खोल्।

।खौल्।

।इ। ।ई। ।ए। ।ऐ।

।मिल्।

।मील्।

।मेल्।

।मैल्।

।उ। ।ऊ। ।ओ। ।औ।

।लुट्।

।लूट्।

।लोट्।

।लौट्।

।सुख्। ।सुना।

।सूख्। ।सूना।

।सोख्। ।सोना।

।सौख्। ।सौना।

।ए। ।ऐ। ।ओ। ।औ

मेल।

।मल्।

।मोल्।

।मौल्।

१. १. ४. २.

व्यंजन

१. स्पर्श व्यंजन

(अ) कंठ्य स्पर्श व्यंजन

।क्।	।करी।	।काय्।	।कर्।	।काम्।	।सिकरी।	।रोक्।	
।ख्।	।खरी।	।खाय्।			।बिखरी।		
।ग्।	।गरी।	।गाय्।	।गर्।	।गाम्।		।रोग्।	।बाग्।
।घ्।	।घरी।		।घर्।	।घाम्।			।बाघ्।

(आ) तालव्य स्पर्श व्यंजन

।च्।	।चल्।	।चाल्।	।कच्चा।
।छ्।	।छल्।	।छाल्।	।कछ्छा।
।ज्।	।जल्।	।जाल्।	
।झ्।	।झल्।	।झाल्।	

(इ) मूर्द्धन्य स्पर्श व्यंजन

।ट्।	।टाट्।		
।ठ्।	।ठाट्।		
।ड्।	।डाट्।	।डाल्।	
।ढ्।		।ढाल्।	

(ई) वर्त्स्य स्पर्श व्यंजन

त्	।ताल्।		।तान्।
थ्	।थाल।		।थान्।
द	।दाल्।	।दान्।	

(१) द्वयोष्ठ्य स्पर्श व्यंजन

प्	पाप्		।पल्
फ्			।फल्।
ब्	।बाप्।	।बात्।	
भ्		।भात्।	

(२) नासिक्य व्यंजन

।न्।	।नाँना। ।नय्। ।नाली।	।पल्न्। ।जल्न्। ।सन्।
।म्।	।माँमा। ।मय्। ।माली।	।कलम्।
।ङ।		।पलङ। ।पलङ। ।सङ।

(३) लुंठित, पार्श्विक, संघर्षी

।र्। ।राल्। ।मार्।
।ल्। ।लाल्। ।माल्।
।ल्। ।लाला। ।बाल्।
।स्। ।साला। ।बास्।
।स्। ।सोई।
।र्। रोई।
।स्। साय्।
।ह्। ।हाथ्।

(४) अर्द्धस्वर

।य्। ।याकै।
।व्। ।वाकै।
।य्। [गाय्] ।गाय्।
।इ। [गा+इ] ।गाइ।
।व्। ।वू।=वह
।ब्। ।बू।=दुर्गन्ध

केवल स्वर एवं स्वर सहित ।य्। में व्यतिरेक

[पारा] ।पारा।
[प्यारा] ।प्यारा।
[गइ्या] ।गइया।
[गया] ।गया।
[भइ्या] ।भइया।
भया भया।

१. २.

खंडेतर ध्वनिग्राम [Supra-Segmental Phonemes]

इन ध्वनिग्रामों को खंडेतर ध्वनिग्राम इसलिये कहा जाता है क्योंकि ये मूल खंड ध्वनिग्रामों के ऊपर रचना की एक अतिरिक्त परत् [layer] के समान प्रतीत होते हैं।

हमारी भाषा के अन्दर अनुनासिकता [Nasalisation] एवं विवृत्ति [Juncture] खंडेतर ध्वनिग्रामिक हैं।

१. २. १.

अनुनासिकता—

अनेक निरनुनासिक स्वरों को अनुनासिक कर देने से व्यतिरेक (contrast) हो जाता है इसलिये अनुनासिकता भाषा में ध्वनिग्रामिक है।

यथा—

।बास्। तथा ।बाँस्।
।सास्। तथा ।साँस्।

१. २. २.

विवृत्ति (Juncture)

विवृत्ति के कई उपभेद हैं। प्रत्येक उच्चार कम से कम विवृत्ति के एक-भेद को अवश्य रखता है। किन्तु भाषा के अन्तर्गत प्रत्येक प्रकार की विवृत्ति ध्वनिग्रामिक नहीं है।

विवृत्ति को दो मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है।

पहला वर्ग

बाहरी विवृत्ति (terminal junctures)—इस वर्ग के तीन उपवर्ग हैं—

(१) ।:□:।
(२) ।॥।
(३) ।।।

कोई भी वाक्य या वाक्यांश बिना इन तीनों [।।। ।॥। ।:□:।] में से किसी एक के समाप्त नहीं हो सकता है। किन्तु हम इनका वर्णन नहीं करेंगे क्योंकि ये वाक्य या वाक्यांश में सदैव आते हैं और कोई व्यतिरेक उत्पन्न नहीं करते हैं।

दूसरा वर्ग

आन्तरिक विवृत्ति (Internal or Plus Juncture)

यह विवृत्ति इस भाषा में ध्वनिग्रामिक है। एक उच्चारण को पूरा एक साथ उच्चरित करें एवं यदि उसके किन्हीं दो ध्वनिग्रामों के मध्य थोड़ा सा विराम देकर बोलें—इन दोनों उच्चारणों में यदि व्यतिरेक पाया जाता है तो वहाँ यह विवृत्ति + हो जाती है

यथा

गाली गा+ली

।बता+माले। ।बतासा+ले।

।वह जान लेगा। ।वह जान्+लेगा।

।वह चलावें जी। ।वह चल्+आवें जी।

१. ३.

अविशेष लक्षण [Non-distnictive features]

इस प्रकरण के अन्तर्गत हम भाषा के उन लक्षणों पर विचार करेंगे जो राग-तत्व लक्षण [Prosodic features] हैं किन्तु ध्वनिग्रामिक नहीं है।

१. ३. १.

१. दीर्घता [length]

पहले भाषा-विज्ञानी ।आ, ई, ऊ। को क्रमशः ।अ, इ, उ। का दीर्घ रूप मानते थे इसलिये इस मत से दीर्घता ध्वनिग्रामिक मानी जाएगी किन्तु इस मत का निराकरण डा० उदयनारायण तिवारी ने अपने लेख "हिन्दी के ध्वनिग्राम" में कर दिया है। वस्तुतः उपर्युक्त स्वरों में केवल उच्चारण-काल की मात्रा का ही भेद नहीं उनके उच्चारण-स्थान में भी भेद है जो मान-चित्र में दिखाया जा चुका है।

स्वरों में मात्राकाल वातावरण के अनुसार, बोलने वाले की गति के अनुसार बदलता रहता है। कुछ साधारण नियम बनाये जा सकते हैं—

(१) शब्द में आदि के स्वरों का मात्राकाल शब्दान्त के स्वर से अधिक होता है।

(२) एकाक्षर शब्दों के स्वरों का मात्राकाल अनेकाक्षर शब्दों के स्वरों से अधिक होता है।

(३) एकाक्षर स्वर शब्द एकाक्षर व्यंजनान्त शब्द से मात्राकाल में अधिक होता है।

(४) अनुनासिक स्वर निरनुनासिक स्वर से दीर्घ होते हैं।

(५) द्वित्व व्यंजन संयोग से पूर्व आए हुए स्वर की दीर्घता अन्य स्थान के स्वरों के मात्राकाल की अपेक्षा कम होती है।

१. ३. २.

बलाघात [Stress]

विश्व की किसी भी भाषा का कोई अक्षर आघात शून्य नहीं होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भाषायें उच्चारों की श्रृंखला में आघातों की भिन्नताओं की विशेषता रखती है। सभी अक्षरों पर आघात समान रूप से नहीं पड़ता है। किन्तु प्रत्येक भाषा में आघातों की ये भिन्नतायें इस प्रकार संयोजित नहीं होती हैं कि जिसके कारण उच्चारों में व्यतिरेक उत्पन्न कर सकें।

दे० हिन्दुस्तानी 'हिन्दी के पृष्ठ १४ १५

बुलन्दशहर तहसील की बोलियों में बलाघात कभी दो उच्चारणों में व्यतिरेक नहीं ला सका है इसलिए बलाघात ध्वनिग्रामिक नहीं है।

शब्दों में अक्षर क्रम से बलाघात सम्बन्धी निम्न सामान्य नियम हैं—

१. एकाक्षर

गा॑म्

२. द्वयाक्षर

(अ) प्रथम अक्षर का स्वर यदि दीर्घ हो एवं उपान्त्य स्वर लघु हो तो बलाघात प्रथम अक्षर पर पड़ता है

बा॑ढ़न्

(आ) विवृत्त अन्तिमाक्षर का उपान्त्य स्वर यदि दीर्घ हो तो बलाघात् द्वितीय अक्षर पर पड़ता है।

किसा॑न्

(इ) संयुक्त व्यंजन युक्त द्वयाक्षर शब्द में बलाघात प्रथम अक्षर पर पड़ता है—

पं॑ना

(उ) यदि दोनों अक्षरों के स्वर दीर्घ हों तो बलाघात प्रथम अक्षर पर पड़ता है—

लो॑टा

(३) त्र्याक्षर एवं चतुराक्षर

इनमें बलाघात अन्तिम दो अक्षरों में से किसी एक पर होता है। सामान्य नियम द्वयाक्षर की भांति ही होते हैं।

१. ३. २.

सुर [Pitch]

सुर स्वरतंत्रियों (vocal cards) के खिंचाव और उनसे उत्पन्न घोष या कम्पन के आरोह-अवरोह के क्रम पर निर्भर करता है। 'सुर की भिन्नतायें आकस्मिक नहीं होतीं, वे बोली के गठन के अंग के रूप में होती हैं।'

सुर के विभिन्न धरातलों [Pitch levels] को विभिन्न प्रकार से अंकित किया जाता है। यथा—

रेखाओं द्वारा, बिन्दु द्वारा, अंकों द्वारा।

आधुनिक भाषाशास्त्री प्रायः।१। से।४। अंकों द्वारा सुर के चार स्तरों को प्रदर्शित करते हैं।१। अंक निम्नतम धरातल के लिए एवं।४। उच्चतम सुर धरातल के लिए। यथा—

२ ३ १
मोहन + आज + घर + गयी :—:

1. The Structure of American English—W. Nelson Francis, Page 1 3- 4

किन्तु हम सुर को अपनी भाषा में परिच्छेदक एवं महत्त्वपूर्ण लक्षण [distinct and significant feature] के रूप में प्रयोगित नहीं करते हैं हमारी भाषा में यह वक्ता की मानसिक स्थिति को सूचित करता है। वक्ता की अनुभूति, भावनायें, मानसिक परिस्थितियाँ ही इसके द्वारा प्रकट होती है; अतः यह भाषा में ध्वनिग्रामिक नहीं है।

१. ४.

अतिशय लक्षण [Redundant features]

व्यंजनों का वर्णन करते समय—[१. १. २] हमें ध्वनि के वे लक्षण मिले जो भाषा की प्रणाली के एक वर्ग में व्यतिरेकी है किन्तु अन्य वर्गों में यह विशेषता खो देते हैं। जब कोई लक्षण व्यतिरेकी नहीं रह जाता; ध्वनियाँ इसे अपना भी सकती है और नहीं भी तब वह लक्षण अतिशय [redundant] हो जाते हैं।

हमारी आलोच्य -भाषा की समस्त प्रणाली में केवल स्पर्श व्यंजनों को छोड़ कर घोष (Voice) एवं महाप्राणत्व (Espiration) व्यतिरेकी लक्षण नहीं रह जाते है। इसलिए घोष और महाप्राणता अन्य वर्गों में अतिशय लक्षण [redundant-features] के रूप में हैं।

चैतन्य-सम्प्रदाय मे प्रेमाभक्ति का साधना दर्शन

डॉ० देवीशंकर अवस्थी

विद्वानों ने मध्ययुग के वैष्णव-साहित्य की जिन मुख्य विशेषताओं की ओर सकेत किया है, उनमें 'लीलावाद' की परिकल्पना अत्यन्त प्रमुख है। इस 'लीला' तत्त्व का ऐतिहासिक क्रम-विकास दिखाना यहां अप्रासंगिक होगा, पर इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि प्रारभ मे सृष्टि तत्त्व की व्याख्या के रूप में ही लीला-तत्त्व सामने आता है। प्रारंभ में लीला का क्षेत्र बहिःसृष्टि तक रहा पर श्री वैष्णवों ने 'लीला' को ब्रह्म की स्वरूप-शक्ति के साथ सम्बद्ध कर दिया। धीरे-धीरे लीला वर्णन का प्रयाण लीला दर्शन की ओर हो जाता है। लीलाशुक बिल्व मगल के कृष्ण-कर्णामृत का वह श्लोक निर्भ्रान्त भाव से इस प्रयोजन को प्रकट करता है जिसमे कहा गया है—

> यानि त्वच्चरितामृतानि रसना लेह्यानि धन्यात्मनां
> ये वा शैशवचापलव्यतिकरा राधावरोधोन्मुखाः
> ये वा भावितवेणुगीतगतयो लीलामुखाम्भोरुहे
> धारावाहिकया वहन्तु हृदये तान्येव, तान्येव मे॥—श्लोक १०६

तुम्हारा जो चरितामृत धन्यात्माओं द्वारा आस्वादन योग्य है तथा शैशव एव चपलता मे उत्पन्न राधा के अन्तःपुर की ओर उन्मुख जो क्रीड़ाएँ हैं अथवा तुम्हारे मुखारविन्दु पर जो भावपूर्ण वेणुगीत गति-लीलाएँ है, वे ही, धारावाहिक रूप से निरन्तर मेरे हृदय मे बहती रहें।

लीला-दर्शन, लीला आस्वादन एवं लीला-गान ही भक्तों का ध्येय बन जाता है। सहस्रो भक्तों ने लक्ष-लक्ष पदों मे नाना भाव से इसी को उपलब्ध करना चाहा है। लीला के, इस बढ़ते हुए विस्तृत रूप में अनेक ऐतिहासिक, पौराणिक, साहित्यिक एवं दार्शनिक उपादान उसमे जुडने लगे। परिणामस्वरूप नाना प्रकार के धाम, परिकर, उनके नाम-रूप और सेवा, उपास्य एव परिकर के मध्य विविध संबंध आदि भी सम्मिलित एवं विवेचित होते गये। उत्तर मध्यकाल के तमाम वैष्णव-सम्प्रदायों के अन्तर मूलतः इन विस्तृतियों को लेकर ही हैं। परात्पर तत्त्व की लीला का दर्शन, ज्ञान एवं आस्वादन सबका काम्य है। पर इसके बाद अनेक सवाल उठ खडे होते हैं—युगल का स्वरूप क्या है? उनमें से प्रत्येक का अलग-अलग स्वरूप, गुण तथा पारस्परिक सबध क्या है? इन दोनों में प्रधान कौन है? भक्त पर अनुग्रह किसका होता है? इनकी लीलाएँ कौन सी हैं, शास्त्र-पुराण वर्णित या और कोई? धाम का स्वरूप या गुण क्या है? परिकर मे किसे और किस रूप या संबंध के अन्तर्गत लिया जाय? साधक के लिए इस सारे विस्तार मे

क्या करणीय है ? इन प्रश्नों या विस्मृतियों पर ही वैष्णव सम्प्रदायों में मतभेद दिखायी देता है पर इनमें सबसे अधिक पुष्ट बौद्धिक विवेचन चैतन्य-सम्प्रदाय में प्राप्त होता है। इस सम्प्रदाय का साधना-दर्शन समझ लेने के बाद सभी सम्प्रदायों की साधनापथ-गुत्थियाँ सुलझने लगती हैं।

गौड़ीय-वैष्णव-तत्त्व-दर्शन को तनिक विस्तार से उपस्थित करने का तात्पर्य मात्र इतना है कि पृष्ठभूमि में स्थित साधना के दार्शनिक पक्ष से परिचित हुआ जा सके। मध्यकाल के विविध भक्ति-सम्प्रदायों से काव्य-पुराणादि वर्णित लीला को इस प्रकार दार्शनिक स्तर पर व्याख्यात करने का यह प्रयास अपने आप में अप्रतिम है। दर्शन की दृष्टि से वल्लभ-सम्प्रदाय बहुत पुष्ट एवं दृढ़ है पर वहाँ भी लीला के बारे में ऐसा सांगोपांग व्यावहारिक विवेचन नहीं मिलता। रामोपासकों पर भी १८वीं शती के आसपास इसका बहुत प्रभाव पड़ा है। गौड़ीय वैष्णवों के समकालीन अन्य वृन्दावनीय सम्प्रदायों ने साधना के शुद्ध व्यावहारिक धरातलों और अपनी रहस्यानुभूतियों के आधार पर ही इस लीला को ग्रहण किया। पर लगता है कि सबके मूल में दार्शनिक दृष्टि लगभग वही रही है जो गौड़ीय वैष्णवों की थी। जो अन्तर है भी उसका कारण है कि गौड़ीय वैष्णव-तत्त्व-दर्शन रहस्यानुभूतियों पर आधारित न होकर परम्परा-प्राप्त साहित्य की नींव पर खड़ा है। उस साहित्य की व्याख्या उन्होंने अवश्य अपने ढंग से की है, पर व्याख्या में पर्याप्त स्वतंत्रता की सुविधा होते हुए भी उस सारे साहित्य एवं विचार की अपनी कुछ सीमाएँ और मर्यादाएँ भी होती हैं। यद्यपि स्वयं चैतन्य संभवतः मध्यकाल के श्रेष्ठतम एवं गहनतम रहस्यानुभूतियों वाले व्यक्ति थे पर स्वयं उन्होंने ऐसा कुछ नहीं लिखा है जिससे कि उस रहस्यानुभूति के स्वरूप या आधार का पता मिल सके। उनके जीवनी-लेखकों ने जो कुछ चैतन्य के मुख से कहलाया है, उसके बारे में यह कहना कठिन है कि कितना चैतन्य का है और कितना उनके मुख में जीवनीकारों ने अपनी ओर से रख दिया है। परन्तु हरिदासी या राधावल्लभी सम्प्रदायों में इससे भिन्न स्थिति रही। इनके संस्थापकों, स्वामी हरिदास एवं हितहरिवंश, ने अपनी रहस्यानुभूतियों को स्वयं ही अभिव्यक्त किया है, इसके लिए किसी आप्त प्रमाण को उन्हें खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उनका अपना अनुभव स्वयं ही प्रमाण रहा। इस तथ्य ने एक दूसरे परिणाम पर इन सम्प्रदायों को पहुँचा दिया। इन्हें कृष्ण की विविध काव्य पुराणादि वर्णित लीलाओं को शिरसः स्वीकार करके अपने सैद्धान्तिक ढाँचे के भीतर स्थान देने की आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि कृष्ण-लीलाओं के भीतर सार-रूप से जो राधा-कृष्ण-प्रेम-तत्त्व है, उसे ही उन्होंने स्वीकार किया। फलस्वरूप ब्रजलीला के स्थान पर निकुंजलीला का एक नया स्तर हमें इनमें उपलब्ध होता है। पर फिर भी इन दोनों लीलाओं के साधना-दर्शन में इतनी समानताएँ भी हैं कि आगे प्रभूत मात्रा में पारस्परिक आदान-प्रदान होता है।

उपास्य कृष्ण

उत्तर मध्य-युग की समस्त हिन्दी काव्य-धारा राम और कृष्ण, इन दो संज्ञाओं के चतुर्दिक ही प्रवाहित होती है इन दोनों नामों में इतिहास और तत्त्व-दर्शन का कुछ ऐसा विचित्र

मेल हो गया है कि इनका व्यक्तित्व अभूतपूर्व आकर्षण से भर उठा है। यद्यपि इस युग में उनका रूप बहुत कुछ स्थिर हो चुका था, परन्तु फिर भी नयी-नयी लीलाएँ कल्पित होती रहीं, नये सदर्भ में वे प्रतिष्ठित किये जाते रहे। उनकी रूप-माधुरी, उनकी लीला, उनका विलास, उनका अनुग्रह अप्रतिरोध्य गति से हिन्दी-प्रदेश के जनमानस में संचरण करता रहा। ऐसे महिमाशाली एव सर्वजनरुचिर कृष्ण ही चैतन्य सम्प्रदाय के मुख्य उपास्य हैं जिन्हें कि सविशेष एव सशक्तिक पूर्णब्रह्म माना गया है। दार्शनिक दृष्टि से शक्ति-प्रकाश के प्रकार भेद और तारतम्य को लेकर एक अद्वय-अखण्ड परमतत्त्व के तीन स्तर---ब्रह्म, परमात्मा एव भगवान् हैं। पर भगवान में सभी शक्तियां अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में रहती हैं, इसलिये कृष्ण को स्वयं भगवान माना गया। स्पष्ट है कि इसके मूल में 'एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' की भागवत वाली धारणा विद्यमान है। अस्तु, ये स्वयं भगवान कृष्ण ही अवतारी हैं, पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार सब उन्हीं के प्रकाश हैं---वे ही सर्वाश्रय एवं सर्वधाम हैं, उन्हीं के शरीर में समस्त विश्व लय होता है।

कृष्ण एक सर्वाश्रय, कृष्ण सर्वधाम।
कृष्णेर शरीरे सर्व विश्वेर विश्राम---चै० प्र० आदि लीला पृ० १६ परि० २

वे सर्वकारण-कारण हैं, विरुद्ध धर्माश्रय हैं। उनकी अनन्त शक्तियों में से तीन मुख्य हैं---स्वरूप-शक्ति, मायाशक्ति और जीवशक्ति। इन्हें अन्तरंगा, बहिरंगा और तटस्था शक्ति भी कहते हैं। अन्तरंगा या स्वरूपशक्ति सर्वश्रेष्ठ है। शक्ति की कल्पना चैतन्य-सम्प्रदाय मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह उनकी अपनी मौलिक कल्पना नहीं है---स्वयं जीवगोस्वामी ने भगवत् सन्दर्भ (पृ०६६) में विष्णु-पुराण की परा-क्षेत्रज्ञा-अविद्या शक्तियों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। जिस समय भगवत्तत्त्व की नराकार कल्पना हुई उस समय उनकी इन अनन्त शक्तियों को स्त्री-रूप में देखा गया है। इस नराकार वैयक्तिक भगवत्तत्त्व के साथ ही लीला, धाम एवं परिकर की कल्पना-न्यायोचित है।

इसी प्रसग में यह भी विचारणीय है कि मध्यकाल में ही भगवान का नरवपु-रूप उन्होंने सर्वोत्तम बनाया था। ईश्वर को मनुष्य के रूप में देखना, अपने आप में आधुनिक मानवतावाद के विकास की ओर एक स्पष्ट कदम था। वैष्णव कवि की स्पष्ट घोषणा है कि कृष्ण के जितने भी खेल हैं, उनमें सर्वोत्तम नर-लीला है। नरवपु ही उनका स्वरूप है, वे गोपवेश-धारी हैं, वेणुकरधारी हैं, नवकिशोर हैं, नटवर हैं और अपने ही अनुरूप नरलीलाएँ करते हैं।

कृष्णेर अनेक लीला, सर्वोत्तम नरलीला, नरव पुताहार स्वरूप
गोपवेश, वेणु कर, नवकिशोर, नटवर, नवलीला हम अनुरूप।

कृष्ण को जो यह सर्वोत्तमत्व प्रदान किया गया है, उसको अत्यन्त सारगर्भित दार्शनिक शब्दावली में जीव गोस्वामी ने 'भगवत्-सन्दर्भ' के अन्त में उपस्थित किया है। इसमे कहा गया है कि "जो सच्चिदानन्द एकरूप अचिन्त्य, विचित्र, अनन्तशक्तियुक्त हैं, जो धर्म होकर भी धर्मी हैं, निर्भेद होकर भी भेदयुक्त हैं, अरूप होकर भी रूपी हैं, व्यापक होकर भी परिच्छिन्न हैं जो विरोधी अनन्त गुणों के निधि हैं जो स्थूल-सूक्ष्म-विलक्षण

स्वप्रकाशक स्वरूपभूत जो विग्रह है, स्वानुरूपा स्वशक्ति की आविर्भाव लक्षणा लक्ष्मी के द्वारा जिनका वामांग रंजित है, जो निजधाम में स्वप्रभाविशेषाकार-रूप परिच्छद और परिकर-सहित विराजमान हैं, जो आत्माराम मुनिगणों के चित्त को भी स्वरूपशक्ति के विलासरूप अद्भुत गुणलीलादि द्वारा लीला-रस से चमत्कृत करते रहते हैं, जो स्वयं सामान्य प्रकाशाकार में ब्रह्म-तत्व के रूप में अवस्थित हैं, जो जीवाख्य तटस्थाशक्ति के और जगत्-प्रपंच की मूलभूता माया-शक्ति के आश्रय हैं, वही भगवान् हैं।''—पृ० १९९–२००

अस्तु, जब कृष्ण को स्वयं भगवान् कहा गया तो उसका अर्थ स्पष्ट रूप से यह है कि कृष्ण में वे समस्त विभूतियाँ, नित्यत्व एवं विशिष्टताएँ स्वीकार की जाएँ जो भगवत्तत्त्व के बारे में कही जा चुकी हैं। इसी स्थल पर गौड़ीय वैष्णवों की महत्त्वपूर्ण देन प्रारम्भ होती है। उन्हें सारी कृष्णलीला की दार्शनिक व्याख्या करनी थी, उसे शास्त्र एवं धर्म की मान्यता देनी थी। ऐसा लगता है कि कृष्ण-लीला-वर्णन के क्षेत्र में भी दो स्पष्ट परम्पराएँ थीं जिनका समझौता एवं समन्वय उन्हें करना पड़ा है। एक परम्परा भागवत पुराण की थी जिसमें गोपियों को सर्व-श्रेष्ठ भक्त मान लिया गया था, नारद एवं शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र इसी परम्परा को दृढ़ करते हैं, दूसरी परम्परा लौकिक काव्य की थी जो राधा को कृष्ण की प्रेमिका के रूप में उपस्थित कर रही थी। बारहवीं शती तक आते-आते इस दूसरी परम्परा को धर्म एवं तत्त्व-दर्शन के भीतर पर्याप्त स्थान मिलता प्रतीत होता है। इस प्रकार एक ओर गोपियाँ प्रेम की आदर्श थीं जिन्होंने अपना सब कुछ कृष्ण को अर्पित कर दिया था और दूसरी ओर राधा थीं, जो प्रेम की सर्वश्रेष्ठ प्रतीक थीं। भक्ति के क्षेत्र में कान्ताभाव के ये दो आदर्श सामने थे। पर भागवत पुराण में गोपी-भाव को ही स्वीकार किया गया। एक प्रश्न यहाँ पर उठता है कि भागवतकार ने राधा नाम क्यों नहीं अपनाया ? इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि या तो भागवतकार को राधा नाम ज्ञात नहीं था या वह राधा-भाव का विरोधी था। पर इतना तो 'अनयाराधितो नूनं' (१०।३०।२४) वाले श्लोक से लगता ही है कि एक कृष्णप्रिया गोपी से वह परिचित है भले ही उसका उपयोग गर्वहरण के नैतिक उपदेश के लिए किया गया हो। भागवत के पहले के विष्णुपुराण (५।१३।३५) और हरिवंश में भी एक विशेष प्रिया गोपी का उल्लेख मिलता है, अतः इस गोपी से भागवत-कार यदि परिचित था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त राधा-कृष्ण की प्रेम-गीतियों की परम्परा हाल की 'गाहा सत्तसई' से लगातार प्रकीर्ण रूप में उपलब्ध होती है। भागवतकार जैसा सिद्धवाक् इस परम्परा से अपरिचित रहा हो, यह भी स्वीकार करने का मन नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत के तत्त्व-दर्शन के बहुत अनुरूप राधा नहीं पड़ती थी। गोपियाँ तो जीवस्थानीया प्रतीक बन सकती हैं जो भक्त बन कर सर्वात्मना समर्पित हो जाती हैं, पर राधा का स्वरूप परम्परा से ऐसा न था। वे कुछ बराबर की हकदार थीं। ऐसा पात्र भागवत-पुराण की प्रतीक योजना के बहुत अनुकूल नहीं प्रतीत होता। शरद्रास एवं वसन्तरास की जिन पृथक् परम्पराओं का अनुमान आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लगाया है, संभव है कि वे गोपीभाव एवं राधाभाव अथवा प्रेम-प्रतीकवाद तथा लौकिक-शृंगारिक भावनामूलक प्रेम की परम्पराओं से संबंधित रही हों। गौडीय वैष्णव दार्शनिकों ने इन दोनों परम्पराओं एवं आदर्शों का अत्यन्त निपुण भाव से धर्म दर्शन के स्तर पर किया इस स राधा-कृष्ण के

लीलागान परम्परा को अत्यधिक बल मिला, यही नही एतत्संबंधी तत्त्वविवेचन ने पूरे प्रेमाभक्ति साहित्य की मूल दार्शनिक आधार-भूमि का भी कार्य किया।

इसके साथ ही ब्रज, मथुरा, द्वारका आदि विविध स्थानों में फैली कृष्ण की अनन्त वैचित्र्य वाली प्रेम या अन्य लीलाओं की चूल भी अपने सिद्धान्त से मिलानी थी। डा० शशिभूषण दास गुप्त ने भी 'श्री राधा का क्रम-विकास' में इस कठिनाई की ओर संकेत किया है—(दे० पृ० २१८)। अपनी प्रतिभा के बल पर गौडीय गोस्वामियों ने इन समस्याओं का सामना किया।

वस्तुत. यह सारा दुष्कर-सा प्रतीत होने वाला कार्य भगवान् की शक्ति कल्पना पर आधारित है। प्रमुख शक्तियों का उल्लेख हम पीछे कर चुके है। यह भी कह चुके है कि एक ही अद्वय परमतत्त्व शक्ति की वैचित्री एव स्फुरणा के आधार पर ही ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहा जाता है। ब्रह्म में शक्ति का अस्तित्व या लीला-वैचित्री का अनुभव नहीं होता। परमात्मा मे जीवशक्ति एवं मायातत्त्व से प्रत्यक्ष संबंध होता है परन्तु भगवत्तत्त्व में इन तटस्थ एव बहिरंग शक्तियों का मूल आश्रयत्व तो रहता ही है, साथ ही स्वरूपशक्ति के साथ प्रत्यक्ष लीला-मग्नता भी विद्यमान रहती है। इस प्रकार भगवान् लीलानन्दमय एवं महैश्वर्यशाली पुरुषोत्तम सिद्ध होते है।[1]

भगवत्तत्त्व के प्रकटीकरण की एक और क्रम-पद्धति भी इस सम्प्रदाय में स्वीकार की जाती है। शक्ति के विभाजन के स्थान पर प्रकटीकरण की चार भूमिकाएँ भी मानी गयी हैं। प्रथम है सदा स्वरूप में अवस्थान। कृष्ण परमतत्त्व के ऐसे ही प्रथम अवस्थान हैं। दूसरी भूमिका तद्-रूपवैभव में अवस्थान की है। भगवान् कृष्ण के अवतारादि शुद्ध सत्वयुक्त वैकुण्ठादि धाम एव धाम के नित्य परिकरगण, इस द्वितीय भूमिका के ही प्रकाशन हैं। ये दोनों ही भूमिकाएँ स्वरूप-शक्ति से संचालित है। तटस्था-शक्ति द्वारा परमतत्त्व के अवस्थान की तृतीय भूमिका जीव है एव बहिरंगा माया-शक्ति द्वारा जगत् के रूप में परिणति इस तत्त्व के अवस्थान की चतुर्थ भूमिका है।[2] यह सब भगवान् की अचिन्त्य शक्ति द्वारा संभव होता है। अचिन्त्य होने के कारण ही ये शक्तियाँ कल्पना न होकर स्वाभाविकी है।

इस प्रकार हम देखते है कि स्वरूपशक्ति के द्वारा पूर्ण भगवान्, धाम, परिकर, आदि के रूप में भगवत्तत्त्व व्यक्त होता है तथा माया-शक्ति के द्वारा जगत् रचना का कार्य होता है। मायाशक्ति का रूप बहुत कुछ परम्परा-प्राप्त ही है, पर, उसे परमतत्त्व के ही एक रूप मे परमात्मा से संबंधित करके माया-सृष्टि को मिथ्या नहीं, सत्य सिद्ध कर दिया गया है।[3] तटस्था शक्ति का सिद्धांत भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जीव तटस्थताशक्ति का प्रकाश है जो कि न तो पूरी तरह मायाशक्ति के वशीभूत है और न स्वरूप शक्ति के ही अन्तर्गत आता है। उसकी गति दोनों ओर है, यदि माया विमोहित कर ले तो वह विषय-वासनाओं में लिप्त हो जाय पर यदि भक्ति (जो स्वरूप शक्ति ही है) जाग जाय तो फिर वह स्वरूप शक्ति की लीला-वैचित्री का

---

१. जीवगोस्वामी के भगवत्-सन्दर्भ के आधार पर।

२ जीवगोस्वामी - भगवत-सन्दर्भ, पृ० ६५-६७

३ वही -सन्दर्भ पृ० ७१-७३

आनन्द प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। माया चूँकि जड़ है, अतः वह इस चेतनाशक्ति को विमोहित करने में सदैव समर्थ नहीं होती। स्वरूप शक्ति के साथ ही भगवान् का विचित्र लीला-विलास चलता है। इसी शक्ति के संदर्भ में भगवान् परिपूर्ण ऐश्वर्यशाली एवं संपूर्ण माधुर्य-भाव के विग्रह होते है। वे सच्चिदानन्द हैं—अर्थात् कि उनके पूर्ण स्वरूप में सत्, चित् और आनन्द ये तीन धर्म होते हैं। इन्हीं तीनों धर्मों का अवलम्बन करके स्वरूपशक्ति भी त्रिधा हुई—संधिनी, संवित् और ह्लादिनी। भगवान् स्वयं सत्तारूप होकर सत्ता धारण करते हैं और कराते हैं। इसे सर्वदेशकाल-द्रव्यादि प्राप्तिकरी भी कहा गया है। संवित् विद्यात्मिका है—भगवान् स्वयं ज्ञानरूप है पर इस शक्ति द्वारा वे स्वयं जानते हैं और दूसरों को भी जनाते हैं। गुणोत्कर्ष से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हुए इनमें सर्वोच्च ह्लादिनी होती है—इस शक्ति के द्वारा स्वयं ह्लादक भगवान् ह्लादित होते हैं एवं दूसरों को भी आह्लादित करते हैं।[1]

भगवान् की इस मूलशक्ति के भीतर एक स्वप्रकाशतालक्षण-वृत्ति विशेष है। इस स्व-प्रकाशतालक्षणवृत्ति विशेष के द्वारा जब भगवान् के स्वरूप या स्वरूपशक्ति का आविर्भाव होता है तो उसी को विशुद्ध सत्व कहते हैं।[2] भगवान् की यह स्वरूप शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है—एक अपने स्वरूप में और दूसरे अपने स्वरूप-विभव में। विशुद्ध सत्त्व से ही पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण के धाम-परिकरादि रूपवैभव का विस्तार होता है। अपने इस वैभव के साथ ही रसमय श्रीकृष्ण का लीलावैचित्र्य होता है। जिस प्रकार भगवान् नित्य है, उसी प्रकार उनका धाम नित्य है, पार्षद-परिकर और सेवक नित्य हैं तथा वहाँ की लीला भी इसीलिए नित्य है। वास्तव में ये सब एक ही हैं, इनका उद्देश्य मात्र भगवान् का प्रकार-विशेष वैचित्र्य व्यंजित करना है।

जीवगोस्वामी ने 'भगवत्-सन्दर्भ' की इन स्थापनाओं को स्पष्ट व्यावहारिक धरातलपट पर 'श्रीकृष्ण सन्दर्भ' में उपस्थित किया है। वस्तुतः ऐसा लगता है कि कृष्ण की काव्य पुराणादि वर्णित लीला उन लोगों के लिए ठोस ऐतिहासिक सत्य थी और इसको ही सब प्रकार से प्रामाणिक एवं सार्थक सिद्ध करने के लिए पूर्वालोचित तत्त्व-विवेचन की प्रणाली खड़ी की गयी थी। 'श्रीकृष्ण सन्दर्भ' में इसीलिए उन्होंने कृष्णलीला से संबंधित सभी स्थानों, व्यक्तियों एवं घटनाओं को पूर्व विवेचित भगवल्लीला का ही प्रकट रूप माना। दोनों प्रकार की लीलाओं को अभिन्न बनाने का प्रयास गौड़ीय तत्त्वविवेचकों, काव्यशास्त्रियों एवं कवियों द्वारा बराबर होता रहा।

इस दुष्कर से प्रतीत होने वाले कार्य को लीला की प्रकट और अप्रकट[3] विशेषता के माध्यम से सम्पन्न किया गया। श्रीकृष्ण के वपु, लीला, धाम, परिकरादि का स्वरूप प्रकट भी है और अप्रकट भी। इस प्रकट और अप्रकट में कोई भेद नहीं है। दोनों स्वरूपतः एक ही हैं। श्रीकृष्ण की अचिन्त्य-अनन्त शक्ति के द्वारा युगपत यह प्रकट और अप्रकट धाम परिकर, एवं लीला विस्तारित होती है।

---

१. जीवगोस्वामी : भगवत्-सन्दर्भ, पृ० १९१

२. वही, पृ० १९१

३. वही श्रीकृष्ण सन्दर्भ पृ० ४०४

धाम और परिकर

वैकुण्ठ, गोलोक आदि धामों की चर्चा वैष्णवों के बीच पहले से ही होती आयी है। जीवगोस्वामी ने इन्हीं का चतुरतापूर्वक उपयोग करते हुए पुराणादि के अनुसार ही सृष्टि लोकों की चर्चा करते हुए वैकुण्ठादि धामों में गोलोक को सर्वोच्च धाम माना।[1] गोकुल एवं गोलोक मे अभेद भी स्वीकार किया।[2] जब भगवान् प्राकृत जगत् में अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं तभी धाम भी परिकर समेत प्रकट होता है, परन्तु भगवान् के सदृश ही ये अपने अप्राकृतत्व को कभी नहीं खोते क्योंकि भगवान् की स्वरूप-शक्ति के प्रकाश होने के कारण माया परे होते है। वास्तव में जैसे भगवद् विग्रह की नराकार कल्पना हुई है वैसे धाम की कल्पना पौराणिक स्थानों के आधार पर इस सम्प्रदाय में हुई है। अप्रकटधाम गोलोक में वैसे ही नदी, वृक्ष, कुञ्ज, लता, गोप, गोपी आदि कल्पित किये गये हैं जैसे इस लोक की पौराणिक कथाओं में वर्णित हैं।[3] दोनों प्रकार के धामो मे अन्तर इतना ही है कि लोक-वृन्दावन में कृष्ण प्रकट और अप्रकट दोनो रूपों में रहते हैं, पर अप्राकृत गोलोक में केवल अप्रकट रूप में। यदि कोई यह कहे कि एक ही साथ धाम की यह दुहरी सत्ता नहीं हो सकती तो जीवगोस्वामी का जवाब होगा कि जैसे एक ही श्री-विग्रह बहुत रूपों में प्रकाशित हो सकता है वैसे ही धाम के भी अनेक रूपों में समान गुण और नाम से प्रकाशित हो सकने में कोई बाधा नहीं नहीं होती। इस प्रकार गोकुल और गोलोक में अभेद है।

धाम-सम्बन्धी एकता के प्रतिपादन के पश्चात् भी एक समस्या जीवगोस्वामी के सामने शेष थी कि कृष्ण की पौराणिक लीला केवल गोकुल ही नहीं मथुरा और द्वारका के साथ भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। अतः जीवगोस्वामी ने प्रकाश-भेद से कृष्ण-लोक के तीन रूप माने हैं—द्वारका, मथुरा और वृन्दावन। इन तीनों धामों में लीला, परिकरादि भी तीन प्रकार के हो जाते हैं। प्रकाश-भेद से तात्पर्य है कि भगवान् के जिस रूप में जैसी लीला जहाँ पर है उसी के अनुसार अन्तर हो जाता है। ये धाम मात्र ऐसे स्थान नहीं है जहाँ भगवान् की प्रतिमा स्थापित हो या जहाँ पर परम-द्वैत का सूक्ष्म स्पन्द हो, बल्कि भगवान् के साक्षात् निवासस्थान हैं। इन तीनों धामों में भी वृन्दावन लीला ही सर्वोत्तम है। यहीं पर माधुर्य अपने विशुद्ध रूप में है, ऐश्वर्य से आच्छन्न नहीं। जीवगोस्वामी ने माधुर्य को ह्लादिनीशक्ति का ही एक पक्ष बताया है। माधुर्य की अभिव्यक्ति के लिए ही वे यहाँ सुन्दर किशोर-रूप में रहे। इसीलिए किशोर-वय को ही लीला की वास्तविक वय मानना चाहिए।[4]

पौराणिक कृष्ण-लीला के सदर्भ में उपर्युक्त विवेचन से संबंधित एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब स्वरूप, धाम, परिकर आदि सब एक ही हैं, नित्य हैं तब वृन्दावन से मथुरा चले जाने पर कृष्ण का गोप-गोपियों से वियोग अथवा द्वारकालीला की समाप्ति पर यादवों से विमुक्ति को कैसे समर्थित ठहराया जाय? जीवगोस्वामी का जवाब होगा कि वास्तव में प्राकृत

---

१. जीवगोस्वामी: श्रीकृष्ण संदर्भ पृ० ३६९

२. वही, पृ० ३६९

३. वही, पृ० ३७१-७२

४ वही पृ० १७०

प्रकट रूप में ही यह नियम है अप्रकट रूप में तो नित्य मिलन और विहार ही है। एक ही स्वरूप अनेक प्रकाश प्राप्त करता है और प्रकाशभेद से अभिमान भेद (मना भेद) तथा क्रिया भेद भी हो जाता है जो अलग-अलग भी सत्य हैं तथा एक ही समय में भगवत्-स्वरूप अनेक रूपों में अलग-अलग प्रकाशित होकर अलग-अलग लीलाएं भी कर सकता है। अतः जब एक प्रकट लीला में वियोग है तब उसी समय अप्रकट लीला में भी संयोग की स्थिति बनी रहती है। और यह सब भगवान् की अचिन्त्य शक्ति के कारण है।[1] यह ध्यान रहे कि गौड़ीय वैष्णवों में 'अचिन्त्य' वह 'ट्रम्प कार्ड' है जिसका प्रयोग प्रत्येक विरोध की शान्ति के लिए वे कर लेते हैं।

पीछे धाम की चर्चा में हम परिकर के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कह चुके हैं कि परिकर, स्वरूप-शक्ति का ही प्रकाश है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही गोकुल, मथुरा, द्वारका के परिकरों की सार्थकता धाम के साथ ही सिद्ध की गयी है। रूपगोस्वामी के 'हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु' एवं 'उज्ज्वल मणि' में इस परिकर को ही विभिन्न प्रकार के भक्तिरसों में अन्तर्भुक्त करने का निपुण प्रयास किया गया है। माधुर्य गुण भगवान् की ह्लादिनी शक्ति से संबंधित होता है एवं विविध भाव-संबंधों में कान्ता-भाव ही श्रेष्ठतम होता है। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न उठता है कि पौराणिक लीलाओं में कान्ता-भाव को अपनाने वाले विविध पात्रों में मात्र गोपियाँ ही कैसे सर्वश्रेष्ठ हैं? व्रज में गोपियाँ, मथुरा में कुब्जा तथा द्वारका में कृष्ण की १६१०८ महिषियाँ हैं जिनमें से ८ पट्टमहिषियाँ भी हैं—सभी कृष्ण को कान्तरूप में ही चाहती हैं, अतः उनमे भागवत पुराण द्वारा स्थापित गोपीभाव की श्रेष्ठता को कैसे बनाए रखा जाय?

गौड़ीय व्याख्याता इसका दो प्रकार से उत्तर दे सकते हैं। प्रथम उत्तर तो स्वकीया-परकीया-भाव के आधार पर दिया जा सकता है। कृष्णदास कविराज ने कुछ इसी लहजे में कहा था—

परकीय भावे अति रसेर उल्लास
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास
व्रजवधूगणेर एइभाव निरवधि
तार मध्ये श्री राधार भावेर अवधि—चैतन्य चरितामृत, आ० ली०, परि०४

यदुनन्दन ने अपने कर्णानन्द में भी परकीयावाद को ही मुख्यता प्रदान की। उनके अनुसार तो जीवगोस्वामी का भी वास्तविक तात्पर्य परकीयाभाव में ही था।[2] आगे चलकर जीव के प्रशिष्य श्यामानन्द एवं श्रीनिवास ने भी परकीयावाद को ही महत्व प्रदान किया। कहा जाता है कि श्रीनिवास की शिष्य परम्परा में राधामोहन ठाकुर ने तो मुर्शिदाबाद के नवाब जफर अली के दरबार में स्वकीयावादियों को एकदम निरस्त कर दिया था। इस संबंध में शीला भट्टारिका को 'यः कौमार हरः' एवं रूपगोस्वामी के 'प्रियः सोऽयं कृष्णः'[3] का बहुधा परकीयावाद के समर्थन मे उल्लेख किया जाता है। पर इनकी व्याख्या स्वकीयात्व के आधार पर भी की जा सकती है।

---

१. जीवगोस्वामी: श्रीकृष्ण संदर्भ पृ० ४०७-९

२. यदुनन्दन : कर्णानन्द, पृ० ८८

३ पद्यावली, ३८२ ८३

इस परकीयावाद को विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने ग्रन्थों एवं टीकाओं में पूरी तरह स्थापित कर दिया। परन्तु प्रारम्भ में ही रूप एवं जीवगोस्वामी की प्रवृत्ति स्वकीयाभाव की ओर थी। मध्यदेश की स्मार्त नैतिकता एवं उनकी अपनी शास्त्रनिष्ठा ने उन्हें परकीयाभाव, जो कि तान्त्रिकसाधना से अधिक संबंधित था, की ओर संभवतः जाने से रोका होगा। यद्यपि 'उज्ज्वल नीलमणिकार' ने परकीया में शृंगार के परमोत्कर्ष की बात कही है[1] और कुछ स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि इस भाव की हीनता केवल प्राकृत नायकों के संदर्भ में ही है, 'रसनिर्यास स्वादार्थ' अवतारी कृष्ण के प्रसंग में यह लघुत्व को प्राप्त नहीं होता।[2] वस्तुतः इस परकीयासूत्र का कथन एवं व्याख्या ठीक भागवत की परम्परा में है। भागवत में गोपियों का वर्णन बहुधा कन्या या परस्त्री के रूप में हुआ है। रास के समय कृष्ण की मुरली के स्वर से गृहीतमानस गोपियाँ अपने सारे घर गृहस्थी के कार्य, पति, पुत्र आदि को छोड़कर कृष्ण की ओर दौड़ पड़ी थीं।[3] उनके पति, पिता, भ्राता और बन्धुओं ने उन्हें बहुत रोका, किन्तु श्रीगोविन्द ने उनके चित्तों को ऐसा खींच लिया था कि वे मुग्धा बालाएँ उनके रोके न रुकीं (१०।२९८)। इस प्रत्यक्ष अनैतिक-सी दिखने वाली क्रीडा के प्रति परीक्षित ने संदेह प्रकट किया था। भागवतकार ने जो उत्तर दिया था, रूपगोस्वामी का उत्तर ठीक उसकी प्रतिध्वनि है। उसका उत्तर था, "जो गोपियों, उनके पतियों और संपूर्ण देहधारियों के अन्तःकरण में विद्यमान हैं, उन सर्वसाक्षी भगवान् ने ही लीला से शरीर धारण करके भूलोक में अवतार लिया था।"[4] अर्थात् तत्त्वतः जो समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में विराजमान रहकर निरन्तर रमण कर रहे हैं उनके लिए परस्त्री जैसी कोई चीज नहीं है और इसलिए परदाराभिमर्शन जैसा कोई प्रश्न ही नहीं उठता। 'रसनिर्यासस्वादार्थ अवतारी कृष्ण' की बात उठाकर रूपगोस्वामी ने दूसरे शब्दों में उसे ही दुहराया है।

यहीं पर तनिक प्रसंगान्तर में जाकर हम कहना चाहते हैं कि मध्ययुग के मधुरभाव की साधना में स्त्री-पुरुष के संबंधों के साथ ही प्रेमवृत्ति का सामन्तीकरण (Feudalisation of Love) मूल में विद्यमान मिलता है। मध्ययुग में व्यक्ति का व्यक्ति से प्रेम या घृणा अधिक सशक्त है। देशभक्ति की भावना की अपेक्षा शरण में आये हुए को रक्षा देने की, मित्र के लिए प्राण देने या प्रेमिका के लिए सब कुछ बलिदान कर देने की भावनाएँ बड़ी प्रबल थी। इस वैयक्तिक आदेश के कारण ही प्रेम और घृणा दोनों ही का रूप विराट् था। ऐसे मध्ययुग में पुरानी वेशभूषा होते हुए भी प्रेम का आवेग जिस नये रूप से शक्तिशाली हो उठता है, वह साधना-क्षेत्र को भी प्रभावित करता है। नम्रता, शिष्टता एवं एक प्रकार का व्यभिचार, इस प्रेम के अंग बन गये। सामन्त और प्रजाजन का संबंध प्रेम के क्षेत्र में नम्रता के रूप में प्रकट हुआ। दरबारी शिष्टता के मानदण्ड, प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक व्यवहार में प्रतिबिम्बित हुए। तीसरे तत्त्व व्यभिचार के कारण और गहरे हैं। सामन्ती विधान के भीतर पत्नी, सम्पत्ति के एक टुकड़े

१. उ० नी० म०, पृ० १४
२. वही, पृ० १४-१५
३. श्रीमद्भागवत. १०।२९।५-७
४ १० ३३ २७-२८

की भाँति स्वीकृत थी अतः उसके साथ प्रेम के अति आदर्शीकरण या रूमानी भावना को जोड़ने का प्रश्न नहीं उठता था। वह तो 'प्राप्त' थी ही। जमींदार के लिए जैसे भूमि वैसे पति के लिए स्त्री—यह सामान्य धारणा थी। इस प्रकार विवाह प्रेम के लिए बहुत अनुकूल नहीं था। यों विवाह की उपयोगिता और पत्नी की आवश्यकता स्वीकृत थी—ऐन्द्रिय परितृप्ति, घरेलू सुख-सुरक्षा भावना एवं सन्तानोत्पत्ति के लिए। पर इनमें आवेगमय रोमांस कहाँ उभर पाता है? परिणाम परकीया-प्रेम हुआ। वही स्त्री अपने पति के लिए महत्त्वहीन पर वही अपने प्रेमी के लिए प्राणाधिका। सी० एस० लेविस का यह कथन इस प्रसंग में नितान्त सार्थक है कि "विवाह को उपयोगी मानने वाले समाज में यौनप्रेम का आदर्शीकरण निश्चित ही व्यभिचार के आदर्शीकरण से प्रारंभ होगा।"[1] भागवतकार ने भी परीक्षित के 'परदाराभिमर्शन' वाले आरोप के उत्तर में अनजाने सामन्ती उत्तर देते हुए यह बताया था कि 'जैसे सर्वभुक्‌अग्नि' को मलिनता स्पर्श नहीं करती, वैसे ही तेजस्वियों के लिए कोई भी चीज दोष नहीं है। ईश्वरगणों का वाक्य ही सत्य हुआ करता है, आचरण सदैव सत्य नहीं होता।' इस उत्तर में मानों कोई कह रहा है कि सामर्थ्यवान् शक्तिशाली सामन्त के लिए कुछ भी दोष नहीं है। उसका शब्द ही कानून है, सत्य है, और सब मिथ्या है।

इस परकीया प्रेम के पीछे एक और मनोवैज्ञानिक कुण्ठा भी स्वीकार की जा सकती है। इस देश में दाम्पत्य जीवन में जिन हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई थी उनमें 'काम' का स्थान महत्त्वहीन हो गया था। धीरे-धीरे उद्दाम आवेगमय वासनात्मक प्रेम को धर्म के वैराग्यशील पक्ष ने अनुचित ठहराना शुरू किया। स्त्रियों की भाँति-भाँति की निन्दा के स्वर हमें काफी प्राचीन-काल से लेकर उत्तर मध्ययुग के कवियों-साधकों तक में मिलते हैं। परन्तु साहित्य में, चित्रों में, जब-जब परकीया प्रेम का चित्रण हुआ, वह मानों धार्मिक वर्जनशीलता के प्रति विद्रोह था। विद्रोह की आत्यन्तिक विजय तब होती है जब लोक-साहित्य की प्रेमदेवी राधा अनन्यशक्तिरूपा बन कर धर्म के सिंहासन पर भी आसीन हो जाती है एवं राधा-कृष्ण का उद्दाम प्रेम, आवेगमयी लीलाएँ, शत-शत कण्ठों से धर्म की पवित्रता के साथ फूट पड़ती हैं। परकीयावाद इन्हीं के साथ एक बौद्धिक-दार्शनिक व्याख्या की मान्यता भी प्राप्त कर लेता है।

वस्तुतः पत्नी के समान आत्म समर्पण, दृढ़ निष्ठा एवं परकीया प्रेम जैसा उद्दाम एवं लीला बहुल अनुराग, एक ही समाज-व्यवस्था की मनःस्थितियों की देन हैं। रूप-जीव आदि भी इस परस्पर विरोधी सी दिखने वाली परम्पराओं, पर जो मूलतः एक ही समाज की थीं, की उपज थे, पर जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, मध्यदेश की आचार प्रधानता और शास्त्रादर्शों की निष्ठा ने व्यावहारिक धरातल पर उन्हें स्वकीयावादी ही बनाए रखा है। उन्होंने स्वकीयावाद का समर्थन परम्परा एवं रसशास्त्र दोनों की दृष्टियों से किया है। साहित्यदर्पण में उपनायक, बहुनायक आदि के प्रेम को 'शृंगार' के अनौचित्यों के अन्तर्गत गिना गया है।[2] जीव ने इस प्रसंग को उद्धृत किया है। भक्ति को रस मानने वाले जीवगोस्वामी ने यह सिद्ध करना चाहा कि गोपियों ने कृष्ण को पति-रूप में

---

१. Allegory of Love, p. 13.

२ साहित्य दर्पण ३ २६३ २६४

प्राप्त किया था, जार रूप में नहीं। जार शब्द का प्रयोग केवल उनके प्रेमाधिक्य की एक मानसिक अवस्था-विशेष का द्योतक है।[१] भागवत में आये कात्यायनी व्रत के प्रसंग से भी ज्ञात होता है कि कृष्ण को वररूप में ब्रज-कन्याओं ने वांछा की थी और भक्त वांछाकल्पतरु श्रीकृष्ण उनकी कामनाओं को पूरा न करें, यह कैसे संभव है? उनके अनुसार गोपियों के साथ न तो कभी गोपों ने विवाह किया और न कभी गोपियों को स्पर्श ही किया, अतः परकीयात्व या परस्पर्शत्व के अधर्म का दोष उन पर नहीं लगता। भागवत के प्रसंगों का अपने अनुकूल अर्थ करते हुए जीवगोस्वामी की सम्मति है कि गोपियाँ उनकी स्वरूपशक्ति का प्रकाश हैं, नित्यप्रेयसी है। परकीयात्व मायिक है, वस्तुत: नित्यप्रेयसीत्व ही है।

इस तनिक लम्बे प्रसंगान्तर के पश्चात् हम पुनः अपने मूल प्रश्न की ओर लौटते हैं कि क्यों वृन्दावन की 'गोपरामाओं' को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान मिला? इसके लिये एक तर्क तो ऊपर विवेचित परकीयावाद का हुआ जो प्रारंभिक गोस्वामियों को बहुत दूर तक मान्य नहीं है। जीवगोस्वामी ने एक तर्क और दिया है। भगवत्-सन्दर्भ में उन्होंने भगवत्तत्त्व की स्वरूपशक्ति को उनकी लीला-सहायिका माना है और वहाँ उसका नाम लक्ष्मी बतलाया है। द्वारका-मथुरा मे स्वरूपशक्ति महिषी नाम से अभिहित होती है। इनमें से रुक्मिणी स्वयं लक्ष्मी हैं तथा आठों पट्टमहिषियाँ स्वरूप-शक्ति की ही अन्य पहलू भू-कृपा आदि हैं। सामूहिक रूप से वे लक्ष्मी से एकात्म है,[२] परन्तु गोकुल में कृष्ण की स्वरूपशक्ति का प्रकाशन ब्रजदेवियों के रूप में हुआ है। वे कृष्ण की श्रेष्ठतम ह्लादिनी शक्ति की विशेष अभिव्यक्ति हैं। इसलिये मथुरा एवं द्वारिका की महिषियों से श्रेष्ठ है।[३] वे सभी वृन्दावनलक्ष्मी हैं।[४] गोपालतापनी उपनिषद् में गोपियों को 'आविद्याकला प्रेरक' कहा गया है। इसकी व्याख्या करते हुए लेखक ने कहा है, 'आ' का अर्थ है सम्यक्, विद्या परम प्रेमरूपा है और कला उनकी वृत्त-रूपा है।[५] ह्लादिनी की तत्तत् क्रियाओं मे प्रवर्तक हैं ब्रजवधुएँ—इसलिए 'तास्तु नित्यसिद्धा एव।' ह्लादिनी की सारवृत्ति प्रेम है और उसी के रससार विशेष का उनमें प्राधान्य है एवं इसीलिए उनका भी प्राधान्य है।[६] अतएव इस प्रेम प्राचुर्य के प्रकाश हेतु श्री भगवान् का भी इनमें परमोल्लास प्रकाश होता है, एवं उसी से भगवान् मे रमणेच्छा प्रादुर्भूत होती है।[७] इस प्रकार एक भिन्न दार्शनिक आधार पर ब्रज-देवियों की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है।

परन्तु समस्त ब्रजदेवियों को नित्यप्रिया या नित्यसिद्धा मान लेने पर एक असंगति सामने आती है। जीव को तटस्थाशक्ति के अन्तर्गत रखा गया है एवं नित्यसिद्धा गोपियाँ स्वरूपशक्ति

---

१. श्रीकृष्ण सन्दर्भ, पृ० ४२९
२. वही, ४३९-४२
३. वही, पृ० ४४२-४४४
४. वही, पृ० ४४३
५. वही, पृ० ४४३
६. वही, पृ० ४४३
७ वही पृ० ४४३ ४४४

वे अन्तर्गत नित्य सहचरी हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में गोपीभाव की साधना से क्या अर्थ होता है? वस्तुतः नित्यसिद्धत्व में साधना का प्रश्न नहीं है। इस अन्तर्गत में [illegible] गोपियों के साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया तीन भेद किये गये हैं। पुनर्जन्म की साधना से जो भक्तजन गोपीदेह पाते हैं, वे साधनपरा गोपियां हैं। साधना द्वारा गोपीभाव की प्राप्ति, इस प्रकार क्रमिक सिद्ध हो जाती है। जब-जब कृष्ण अंशरूप में देवयोनि में जन्म लेते हैं, तब-तब उनके सतोषसाधन के लिए नित्यप्रियाओं के अंशों का भी जन्म होता है, यही देवियां हैं। यह याद रखने की बात है कि साधनापरक गोपीतत्त्व ही जीव का साध्य है, नित्यप्रिया गोपीत्व कभी भी साध्यवस्तु नहीं है, वह नित्यसिद्ध है।

राधा

पीछे हम कह चुके हैं कि गोपीलीला एवं राधालीला की दो परम्पराओं का समन्वय गौडीय वैष्णवों ने किया है। इस समन्वय में राधा प्रमुख हो उठी हैं एवं अन्य गोपियां उन्हीं की अंगभूता या अंशरूपा हो गयी हैं।[1] राधा और चन्द्रावली में भी गुणों से अतिवरीयसी महाभाव स्वरूपिणी श्री राधा ही सर्वश्रेष्ठ हैं। कृष्णदास कविराज की भी गवाही है—

> ह्लादिनी सार प्रेम, प्रेमसार भाव, भावेर परकाष्ठा नाम महाभाव
> महाभावस्वरूपा श्री राधा ठकुरानी, सर्वगुणखानि कृष्णकान्ता शिरोमणी।
> —चै० च०, आ० ली०, परि०४, पृ०२४

तात्त्विक दृष्टि से वे सर्वशक्तिवरीयसी ह्लादिनीशक्ति ही हैं।[2] और भक्ति के पक्ष से देखा जाय तो भगवत्‌रति की परिणति के सर्वोच्च शिखर महाभाव की साक्षात् विग्रह हैं। वे प्रेम का साक्षात् स्वरूप हैं, उनकी देह प्रेम से विभावित है। कृष्ण को रसपान करा कर वे पूर्णकाम करती हैं। वास्तव में लक्ष्मीगण, महिषीगण एवं ब्रजदेवीगण उन्हीं का अंश हैं। इनमें ब्रजदेवीगण आकार-भेद से राधा की ही कायव्यूह रूप हैं। उन्हीं की सहायता से राधा-कृष्ण को रसपान कराती हैं। राधा पूर्णशक्ति हैं, कृष्ण पूर्णशक्तिमान् हैं बल्कि कहना यों चाहिए कि वे एक ही हैं—केवल लीलारस के लिए दो हैं। अतः वृन्दावन में राधा-कृष्ण की युगलित स्थिति ही सर्वाधिक सान्द्रानन्द चमत्कार कर प्रकाश है। नित्य किशोरावस्था में होनेवाली यह लीला ही एकमात्र आस्वाद्य है।

भगवत्-सन्दर्भ में भक्ति को भी ह्लादिनी शक्ति का ही एक पक्ष माना गया है। राधा भी ह्लादिनी हैं। भगवान् का स्वरूप रसमय है और इस रसमयता का कारण ह्लादिनी शक्ति है। इस शक्ति के द्वारा भगवान् स्वयं आह्लादित होते हैं और दूसरों को भी आह्लादित करते हैं। इस प्रकार उनका प्रवेश दोनों ओर है। भगवान् के साथ वह लीला-सहचरी बन कर उन्हें रसास्वादन कराती हैं तथा भक्त के हृदय में भक्ति बनकर भगवत्-आनन्द में उसे लीन करती है।

---

१ उ० नी० म०, पृ० ७३
२ वही, पृ० ७५

चूकि ह्लादिनी की सारभूत विग्रह राधा हैं, अतः राधा का भी दोनों पक्षो में प्रवेश गोस्वामियो ने विवेचित किया है---

ह्लादिनी कराय कृष्णो आनन्दास्वादन
ह्लादिनी द्वाराय करे भक्तो पोषण

चै० च०, आदि लीला, परि० ४, पृ० २४

इस प्रकार हम देखते हैं कि राधा की प्रतिष्ठा स्वरूपशक्ति की श्रेष्ठतम वृत्ति के रूप मे भी की गयी; भगवान् के प्रति उन्मुख होने वाले पाँच मुख्य भाव संबंधों में श्रेष्ठतम कान्तारति के श्रेष्ठतम रूप समर्थारति की अन्यतम प्रतिनिधि भी वे मानी गयीं और प्रेमभाव के विकास की श्रेष्ठतम परिणति महाभाव के साथ एकात्म दिखाकर उन्हें सर्वश्रेष्ठ भक्त भी सिद्ध कर दिया गया। वे सर्वोच्च शक्ति हैं, सर्वाधिक मधुरकान्ता है एवं सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं---इस सम्प्रदाय मे।

सखी

प्रेम-काव्य की एक रूढ़ि के रूप में सखी की सत्ता भारतीय साहित्य में बड़े प्राचीन काल से मान्य रही है। जिस प्रकार प्रेम-काव्य की रस-निर्भर नायिका राधा, धर्म और दर्शन के सिंहासन पर भलीभाँति आरूढ़ हो जाती है वैसे ही 'सखी' भी साधना के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती है। लगता है कि सखी-भाव धीरे-धीरे जड़ पकड़ता जा रहा था एवं सोलहवीं शताब्दी मे अनेक सम्प्रदायों में अचानक फूट पड़ा। हरिदासी, राधावल्लभी एवं गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय इसके प्रारंभिक उत्स बने एवं बाद को इसने अपने समकालीन प्रत्येक सगुण भक्ति के सम्प्रदाय को प्रभावित किया। पुष्ट दार्शनिक भित्ति पर आधारित पुष्टि-मार्ग भी इससे असम्पृक्त न रह सका तथा मर्यादा का स्थापक रामभक्ति सम्प्रदाय तो इसमें आकण्ठ मग्न हो गया। यहीं नही निर्गुणोपासक शुक-सम्प्रदाय के बारे में यह कहना कठिन हो गया है कि वह निर्गुणोपासक है या सखी-भाव भावित सगुण भक्ति का गायक है। ऐतिहासिक पूर्वापर की बात न उठाकर यदि सामाजिक-मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो हमारा विचार है कि सखी-भाव की साधना उस काल की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। जब लीलावपु उपास्य हों, जिसके भिन्न-भिन्न धामों में भिन्न-भिन्न परिकरों के साथ नित्य लीलाएँ चल रही हों और उनमें भी लक्ष्मी, रुक्मिणी , सत्यभामा, कुब्जा या राधा जैसी कान्ताएँ भी हों, तब कान्ता भाव के क्षेत्र में अपने को भी एक प्रिया मानना स्वय अपने को दीन भाव से ग्रस्त करना है। फिर वह लीला भी कम मोहक है जिसे देखने के लिए मन ललचा न उठे ? इसके अतिरिक्त प्रियतमा बन सकने की योग्यता का भी तो सम्पादन करना चाहिए। मामूली किसान की लड़की भाग्य से रानी बन जाय यह बात तो दूसरी है पर वह किसी तत्कालीन सामन्त या बादशाह की प्रिया बन सकने की अपेक्षा सेविका ही उस समय अधिक बन सकती थी। ऐसी स्थति में यदि इन साधकों में सखीभाव का प्रचार हुआ हो तो उसे ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक आवश्यकता ही समझना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से गोपीभाव, राधाभाव और सखीभाव----विकास का यह क्रम रहा है। साधनागत विकास की दृष्टि से गोपीभाव की चरम परिणति है। राधा होने के साथ-साथ सवश्रेष्ठ भक्त भी हैं जहा

तक कि अन्य भक्त पहुँच ही नहीं सकते जिसका कि दर्शन मात्र दूसरे को भक्ति का आनन्द देने वाला है। ऐसी स्थिति में सामान्य जन के लिये जिस भी सीधे मार्ग की आवश्यकता पड़ी उसके लिए ब्रज-परिकर में सखी की कल्पना और महत्ता अनिवार्य हो गयी थी। इस प्रकार प्रेमिकाएँ और भक्त, गोपियाँ हैं और श्रेष्ठतम प्रेमिका एवं सर्वोत्तम भक्त राधिका हैं तथा सखियां उनकी (युगल की) नित्य प्रेमक्रीड़ा का आयोजन एवं दर्शन करने वाली हैं। इस विकास के पीछे कुछ अन्य तथ्य भी हैं, भारतीय परिवार का नैतिक आदर्श बहुवल्लभावादी नहीं है, मनोविज्ञान की दृष्टि से भी प्रेम की परम निष्ठा एक के ही प्रति हो सकती है। इन तथ्यों ने गोपियों के स्थान पर एक प्रमुख गोपी राधा की कल्पना को सहायता दी होगी। इसके अतिरिक्त भक्ति के क्षेत्र में सेवक-सेव्यभाव भी सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। ईश्वर हमसे बड़ा है—भले ही उसे ऐश्वर्यशाली न कह कर रसमय कहा जाय, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसके प्रति सेवा-भाव अनिवार्य है। अतः जब कान्ता-भाव का जोर बढ़ा तो उसी के भीतर से सेव्य-सेवक संबंध पर आद्धृत सखीभाव भी उभर कर आ गया। पुराने दास्यभाव से इसका मुख्य अंतर यही है कि वहाँ पर प्रभु में विभुत्व अधिक है और यहाँ पर रसत्व। इसी कारण सेवा में अंतरंगता की मात्रा भी अधिक है। मध्यकाल के चित्रों एवं मन्दिरों में उत्कीर्ण मूर्तियों में रतिकेलि के समय दासियों की उपस्थिति देखी जा सकती है। भक्ति-साधना की दृष्टि से उनमें अंतरंगता या प्रेम का तत्त्व और जोड़ कर सखी का स्थान सहज ही दिया जा सका होगा। इस प्रकार सखी-भाव की साधना मधुररस के माध्यम से सेव्य-सेवक-संबंध का ही पुनरुत्थान है।

अस्तु, चैतन्य सम्प्रदाय में भी इन सखियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्य सखी भावोपासकों के मन्तव्यों का सारतत्त्व इस सम्प्रदाय में मिल जायगा पर यह सब कृष्ण की लीलाओं और उनके बारे में प्रचलित धारणाओं को स्वीकार कर के ही है और जिस ढाँचे के भीतर उस सबको स्थान दिया गया है, उसी के भीतर ये भी हैं। अलग से सखी भाव को उन्होंने अतिरिक्त स्फीति नहीं दी। उज्ज्वल नील मणि में वर्णित राधा के गुणों में से एक गुण यह भी है कि वे सखी प्रणयाधीना हैं।[1] इन सखियों को भी रूपगोस्वामी की विश्लेषण प्रवण-प्रतिभा ने पाँच भागों में बाँटा है—सखी, नित्य सखी, प्राण सखी, प्रिय सखी और परम श्रेष्ठ सखी। इनके काम-धामका और भी लम्बा विवेचन है जिसके विस्तार में यहाँ हम नहीं जावेंगे।

कृष्णदास कविराज ने इन सखियों के महत्त्व का बड़ा मनोहारी दिग्दर्शन किया है। उनके अनुसार सखियों के बिना इस लीला की पुष्टि ही नहीं होती। सखियाँ ही लीला-विस्तारक भी हैं और आस्वादक भी हैं। सखियों के बिना लीला की अन्य कोई गति ही नहीं होती। वे स्पष्ट बताते हैं कि जो सखीभाव से इनका अनुगमन करता है वही राधा-कृष्ण-कुंज-सेवा रूपी साध्य को प्राप्त कर सकता है। अत्यन्त गद्‌गद भाव से वे इन सखियों के अद्‌भुत अकथ्यकथन गुण बताते हैं कि इन सखियों में कृष्ण-संग-सुख की स्पृहा नहीं होती। राधिका के साथ ही कृष्ण की लीला कराने में ही उन्हें अपनी केलि से कोटि गुना अधिक सुख मिलता है। राधा स्वयं कृष्ण के प्रेम की कल्पलता हैं एवं ये सखियाँ उस लता के पल्लव, पुष्प एवं पत्रों की भाँति हैं; अतः जैसे लता की

---

१ उ० नी० म० पृ० ९५

जड सींचने से पल्लवादि को स्वयं रस प्राप्त हो जाता है वैसे ही राधा की रसप्राप्ति उन्हें रस पुष्ट करती रहती है।[१] जीवगोस्वामी ने भी बताया है कि नायक-नायिका (राधा-कृष्ण) का स्थायी भाव 'साक्षात् उपभोगात्मक' होता है पर सखियों में यह 'तदनुमोदनात्मक' ही है।[२]

परन्तु एक बाधा फिर आती है कि सखियाँ राधा की कायव्यूह रूप होने के कारण स्वरूप शक्ति का प्रकाश हैं पर जीव तो तटस्था शक्ति के अन्तर्गत है इसलिए जीव की सेवा वही नहीं हो सकती जो इन नित्य सखियों की होती है। इसलिए स्वातन्त्र्यमयी सेवा और आनुगत्यमयी सेवा, ये दोनों भेद स्वीकार किये गये हैं। ब्रज-परिकर की सखियों की सेवा स्वातन्त्र्यमयी है एवं जीव या साधक की आनुगत्यमयी। ये ही क्रमशः रागात्मिका एवं रागानुगा भक्तियाँ हैं। अष्टयाम की सेवाओं में आनुगत्यमयी सेवा का ही विस्तार हुआ है। वस्तुतः अपने समकालीन अन्य सम्प्रदायों की भाँति ही परिकर के अनुगमन पर लीला का स्मरण और आस्वादन गौड़ीय वैष्णवों का भी परम काव्य बन जाता है। प्रारंभ में साधनपरा गोपी भाव की साधना अवश्य स्वीकार्य रही है पर धीरे-धीरे उस स्थान को सखी-भाव की साधना ने ले लिया। रूपगोस्वामी की पद्यावली में गोपी-प्रेम के तमाम मधुर चित्र उपलब्ध हो जाते हैं[३] पर उनके शिष्य माधुरीदास की वाणी का वक्तव्य सखीभावोपासकों के अधिक निकट पहुँच जाता है। वस्तुतः प्रेमाभक्ति के अभिव्यंजक सभी वैष्णव-सम्प्रदायों में, सत्रहवी शती से सखी-भाव उत्तरोत्तर प्रभुत्व प्राप्त करता गया है।

---

१. चै० च०, आदि लीला, परि० ८, पृ० १५२

२ प्रीति-सन्दर्भ पृ० ८६७

३ श्लोक १५४-१५७ तथा अन्य भी



हिंदुस्तानी

त्रैमासिक

(१९६१ के चार अंकों में प्रकाशित लेखों की सूची)

[प्रथम अंक]

पदमावत में अर्थ की दृष्टि से विचारणीय कुछ स्थल : डा० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए० डी० लिट्०
गिरिधरनाथ-कृत रसिक शृंगार—एक सुन्दर संवाद-काव्य : डा० भगीरथ मिश्र
फिरंगी और लोक-मानस : डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, एम० ए०, पी-एच० डी०
रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास और हिन्दी पाठकों के बीच उसकी लोकप्रियता : श्री गोपालर
आर्य-समाज की हिन्दी सेवाएँ : डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, एम० ए०, पी-एच० डी डी० लिट्०
गढ़वाल चित्र-शैली : श्री वाचस्पति गैरोला
वैदिक साहित्य में इतिहास और पुराण शब्द : डॉ० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री
साख री कविता : डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
भारतीय दर्शन और समाज व्यवस्था : डॉ० सुरेन्द्र मित्तल
पदमावत में नख-शिख-वर्णन : डॉ० श्याम मनोहर पाण्डेय

[द्वितीय अंक]

विस्मृत प्राय प्राचीन हिन्दी लोक-गीत : श्री अगरचन्द नाहटा
ब्रजभाषा के लिंग-वचनीय रूप ग्राम : डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन', एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राचीन भारतीय ज्योतिष तथा गणित भूगोल : श्री मायाप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०
नाट्य में शान्त रस : श्री शंकरदत्त ओझा
हिन्दी की ध्वन्यात्मक शब्दावली : डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, एम० ए०, पी-एच० डी०
बुन्देलखण्ड में चंद सखी के भजन और लोकगीत : डॉ० शालिग्राम गुप्त
प्राचीन भारत में नगरों का आर्थिक जीवन तथा संगठन : डॉ० उदयनारायण राय
प० लल्लूलाल – जीवनी और समस्याएँ : डॉ० आशा गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०

[तृतीय-चतुर्थ अंक]

पदमावत से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ और उनका समाधान : डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट्०
राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी लिपि : डॉ० भोलानाथ तिवारी
सूफी प्रेमाख्यान साहित्य के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा : श्री परशुराम चतुर्वेदी
प्राकृतछन्द कोश : प्रो० देवेन्द्रकुमार जैन
प्राचीन भारत में क्रीड़ाएँ : डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
गो-पालन सम्बन्धी कश्मीरी शब्दावली : डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त
बुलन्दशहर की बोलियों का ध्वनिग्रामिक अध्ययन : श्री महावीरसरन जैन
चैतन्य में प्रेमाभक्ति का साधना-दर्शन डॉ० देवीशंकर अवस्थी